सम्पादक-मण्डल

विषय—सूची

ओ३म्

गुरुकुल पत्रिका

(गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालयस्य, मासिक पत्रिका)

माघ ; फाल्गुन २०४० अंक : १
जनवरी, फरवरी : १९८४ वर्ष : ३६ पूर्णांक : ३५२-५३

श्रुति-सुधा

त्वमिमा ओषधीः सोम विश्वास्त्वमपो अजनयस्त्वं गाः ।
त्वमा ततनोरुर्वा३न्तरिक्षं त्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्थ ॥ साम० ६०४ ॥

अन्वय :—सोम ! त्वम् इमाः विश्वाः ओषधीः अजनयः, त्वम् अपः [अजनयः] त्वं गाः [अजनय] । त्वम् उरु अन्तरिक्षम् आततनोः, त्वं ज्योतिषा तमः विववर्थ ।

सं० अन्वयार्थ :—हे जगदुत्पादक प्रभो ! तूने इन सब औषधियों को पैदा किया, तूने जलों को पैदा किया, तूने गौओं को पैदा किया । तूने विस्तृत अन्तरिक्ष को फैलाया है, तूने ही ज्योति से अन्धकार को हटाया है ।

अन्वय :—(सोम !) हे जगज्जनक जगदीश्वर ! (त्वम् इमाः ओषधीः अजनयः) तू [रोगों को भस्म करने वाली] इन समस्त औषधियों को उत्पन्न करता है, (त्वम् अपः) तू ही शान्तिप्रद जलों को उत्पन्न करता है, (त्वं गाः) तू ही इन दुग्धामृत प्रदान करने वाली गौओं को उत्पन्न करता है । (त्वम् उरु अन्तरिक्षम् आततनोः) तू विस्तृत अन्तरिक्ष को फैलाता है,(त्वं ज्योतिषा तमः विववर्थ) तू ही ज्योति से अन्धकार को हटाता है ।

इस संसार में रोगों को नष्ट करने वाली जितनी भी औषधियां हैं, जल हैं, गौवें हैं वा रश्मियां हैं वा इन सब के अतिरिक्त भी जो कुछ है उस सब को उत्पन्न करने वाला वह एक ही परमेश्वर है। वही इस महान् अन्तरिक्ष को फैलाकर उस में सब प्रकार के पदार्थों और प्राणियों को उत्पन्न करता है । सभी प्राणियों को वह अपने-अपने कर्मों के अनुसार नानाविध भोज्य पदार्थ प्रदान करता है । वह महान् प्रभु अपने सूर्य चन्द्र एवं अग्नि आदि तत्त्वों के द्वारा इस में विद्यमान रहने वाले अन्धकार को हटाता है, वही वेद ज्योति के द्वारा सब मानवों के अविद्यान्धकार को हरता है, वही अपनी अध्यात्म ज्योति के द्वारा उपासकों के हृदय के उस मल विक्षेप और आवरण का हरण करता है जिस के कारण कि वह अपने ही अत्यन्त समीप विद्यमान रहने वाले अपने प्राणप्रिय सखा का साक्षात्कार नहीं कर पाते और उस के परम आनन्द से अपने आप को आप्लावित नहीं करते……।

महापुरुषों के बचन

इस परमेश्वर का स्वरूप मन और वाणी से परे है। इसके सम्बन्ध में हम इतना ही कह सकते हैं कि यह परमेश्वर अनन्त, अनादि, सदा एक रूप रहने वाला, विश्व का आत्मा रूप अथवा आधार रूप और विश्व का कारण है। वह चैतन्य अथवा ज्ञान स्वरूप है। इसी का एक सनातन अस्तीत्व है। शेष सब नाशवान् है। अतः उसे एक छोटे से शब्द से समझने के लिये हम इसे 'सत्य' कह सकते हैं।

—महात्मा गांधी

तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाक्षराद्विविधाः सोम्यभावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति ॥ मुण्डकोपनिषद् २.१.१ ॥

वह यह (अक्षर ब्रह्म) सत्य है। जिस प्रकार अत्यन्त प्रदीप्त अग्नि से उसी के समान रूप वाले वाले हजारों स्फुलिंग निकलते हैं। हे सोम्य ! उसी प्रकार उस अक्षर से अनेकों भाव प्रकट होते हैं और उसी में लीन हो जाते हैं।

जो सत्य है वही दूरदर्शी दृष्टि से हितकर अथवा श्रेष्ठ है इसलिए सत्य अथवा सत् का अर्थ श्रेष्ठ भी होता है और सत्यआग्रह, सत्यविचार, सत्य-वाणी और सत्यकर्म जो वस्तु है वही सदाग्रह, सद्विचार, सद्वाणी और सत्कर्म है।

—महात्मा गांधी

जो तुम्हें भगवान् की ओर ले जाय उसे अच्छा मानना चाहिये और वह सब तुम्हारे लिए बुरा है जो तुम्हें भगवान् से दूर ले जाये।

—श्री अरविन्द

जो जीवन लक्ष्यहीन होता है, वह सुखहीन भी होता है। तुम्हारा लक्ष्य होना चाहिये उच्च और विशाल, उदार और उन्मुक्त और फिर तुम्हारा जीवन तुम्हारे लिये और दूसरों के लिये भी बहुमूल्य हो जायेगा।

—श्री मां

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।

तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥ गीता ३.७० ॥

जैसे नाना नदियों के जल सब ओर से परिपूर्ण अचल प्रतिष्ठा वाले समुद्र में उसको विचलित न करते हुए ही समा जाते हैं वैसे ही सब भोग जिस स्थितप्रज्ञ पुरुष में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न किये बिना ही समा जाते हैं, वही पुरुष परम शान्ति को प्राप्त होता है, भोगों को चाहने वाला नहीं।

महापुरुष चरितम्

स्वामी दयानन्द—

सम्भवत: यह बात बहुत से लोगों को ज्ञात नहीं होगी कि स्वामी दयानन्द से बहुत से स्थानों पर और बहुत बार मूर्ति–पूजा का खण्डन छोडने के लिये अनुरोध किया गया और उन्हें प्रलोभन दिये गये। किन्तु निर्भीक महर्षि ने इन सब प्रलोभनों को ठुकरा दिया।

(i) सन् १८६९ ई० में जब कि काशी में महाशास्त्रार्थ के कारण चारों ओर महान् आन्दोलन हो रहा था, काशी का एक प्रसिद्ध पण्डित एक दिन रात्रि के समय दयानन्द के पास आया और प्रार्थना करने लगा—

"आप अन्य सब बातों का खण्डन करें, परन्तु मूर्ति–पूजा का खण्डन न करें, तो काशी की समग्र पण्डित मण्डली एकत्र होकर आपके गले में जयमाला पहनायेगी और आप को हाथी पर सवार कराकर आपकी सवारी सारे नगर में निकालेगी और आप को हिन्दुओं का अन्यतम अवतार मान लेगी।"

उत्तर में महर्षि दयानन्द बोले—

"मैं कुछ नहीं चाहता, मैं तो वेद प्रतिपादित सत्य के प्रचार के लिये आया हूँ।"

पण्डित जी चुप हो गये और उठकर चले गये।

(ii) सन् १८७७ ई० में जब स्वामी दयानन्द लाहौर में ठहरे हुए थे और उन्होंने पञ्जाब में प्रबल आन्दोलन उपस्थित कर रखा था, तब काश्मीरपति महाराजा रणवीरसिंह ने पं० मनफूल द्वारा स्वामी जी से अनुरोध किया था कि आप जो कुछ अन्य कार्य कर रहे हैं, करें परन्तु मूर्ति-पूजा के विरोध में कुछ न कहें। यदि आप ऐसा करें तो मैं अपना धनागार आपके समर्पण कर दूंगा। परन्तु दयानन्द ने इसका उत्तर दिया—

"मैं वेद प्रतिपादित ब्रह्म को सन्तुष्ट करूंगा न कि काश्मीरपति को। आप ऐसी बात फिर मेरे सामने न कहें।"

(iii) दिल्ली के निकटवर्ती किसी स्थान का एक सेठ छकड़े में एक लाख रुपया भरकर स्वामी जी के पास लाया और उनसे विनयपूर्वक बोला—"महाराज! मैं यह एक लाख रुपया आप की भेंट करता हूं, आप मूर्ति–पूजा का खण्डन नहीं कीजिए। इसके अलावा कुछ आप कहना चाहें कहते रहिये"।

उस सेठ के इस अनुरोध को देखकर स्वामी जी हंसने लगे और उस सेठ से मात्र इतना बोले "सेठ जी आप यहां से चले जाइये।"

(महर्षि दयानन्द जी का जीवन चरित्र—देवेन्द्रनाथमुखोपाध्याय—भूमिका)

स्वामी श्रद्धानन्द—

स्वामी श्रद्धानन्द एक महान् व्यक्ति थे। जिन्होंने अपने मोक्ष को मन से निकाल कर दु:खी और पीड़ित जनता को कष्ट से मुक्ति दिलाना चाहा था।

—औमप्रकाश 'पुरुषार्थी' □

पञ्जाबविश्वविद्यालये विद्वत्परिषदि समादृतोऽयं निबन्धः :—

वेद एव भाष्यकारः

—डा० निगम शर्मा
रीडर-अध्यक्ष संस्कृत विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालयः ।

विदितवेदितव्या अधिगतवेदहृदयाः सदया महर्षयो विमर्शयामासुः यद् वेदः खलु स्वभेदं स्वत एव जनयति सूर्यवत् । यथा सूर्यस्य दर्शने नास्ति प्रकाशान्तरस्य आवश्यकता स्वतः प्रकाशपुञ्जत्वात् स्वयमेव अन्यान् प्रकाशयन् आत्मानमपि प्रकाशयति तथैव वेदः खल्वपि स्वयमेव अन्यान् विज्ञापयन् आत्मानपि स्वत एव विज्ञापयति सर्वज्ञस्यात्मनो लिंगत्वात् ।

सर्वासां सत्यविद्यानां हृदयस्थानीयो हि वेदः यो यः सहृदयः शक्त्या यथा यथा वेदस्य वैदुष्यमधिगच्छति तथा तथ विदुष्मती वागस्य मनीषामुद्भावयति । स शोकं तरति, मोहं जहाति, हृदय-ग्रन्थिं श्लथयति, संशयान् कामानुवर्तिनो मनोरथांश्च विरथीकरोति । किं बहुना आत्मविद् आत्मैव भवति नास्य अब्रह्मवित् कुले जायते । बीनदुःखसन्दोहः कोऽहमिति जानाति । अन्यानपि वशे स्थापयति आत्मरथी सुरथः श्रुतिकथा प्रगल्भ आनन्दैकरसः सदस्येषु रहस्यवाक् समस्यासु विकसन्मुखः सामान्येषु प्रमुखः कुशलो विनेता नेतृपूजितश्च प्रकटयति सुखम्, ज्ञापयति युगधर्मम्, वेदयति च वेदम् ।

तस्यैतस्य वेदस्य वेदार्थता प्रकाशनेऽनुशासनदक्षा अपि कृतपरिष्कृत पक्षा अपि शुभलक्षणाः पीनवक्षसो विलसद्गवाक्षा अन्तश्चक्षुषो विचक्षणाः आ आविर्भावकालाद् लग्नाः मग्नाश्च दरीदृश्यन्ते । उव्वट–महीधर–सायण–दयानन्दप्रमुखा एतद्देशे विदेशे चापि बहवस्तर्करसिका विज्ञानलोचनाः पण्डिताः सन्त्येव भाष्यार्थचतुराः प्रचुरा महाभागाः कल्लोलयन्तो हृदयसागरं जनमानसं च मानयन्तो युगं प्रमाणयन्ति स्वकीयानि स्वकीयानि प्रतिमाप्रभाजूंषि भाष्याणि । अस्ति चैतेषु द्युमती वागुल्लसन्ती । एभिस्तर्कशिरोमणिभिर्गण्यमानैर्मनीषिभिरियं भगवती वसुमती सत्यमेव वसुधानी प्रतिष्ठा रत्नगर्भा च । एतान् प्रणमन् भगवतीं भावयन् युष्मांश्च श्रद्धया विलोकयन् वेद एव वेदताविषये जातवेदतां प्रकटयति, इति मानयामि ।

तत्र विचारवीवधे पश्यामस्तावद् बहुषु मन्त्रेषु शब्दान्तरैः शब्दव्याख्या-तद्यथागायन्ति त्वा गायत्रिणो ऽर्चन्त्यर्कमर्किणः (ऋ-१-१०-१) इति मन्त्रे त्वां गायत्रिणो गायन्ति, अर्किणस्त्वाम् अर्चन्ति । स्पष्टमेवात्र वेदयति वेदः, "गायत्रिणः" इति शब्दस्य गानकुशलाः, अर्किणः इत्यस्य चार्चन–स्वभावाः एवार्थः । क्वचित् पूर्णस्यैव मन्त्रस्य मन्त्रान्तरेणसुमती व्याख्या :— यथा गायत्री मन्त्रस्य व्याख्या प्रसंगे (यजुर्वेद-२२-९,१०,११,१२,१३,१४ मन्त्रेषु ऋषे र्वेदस्यानन्दप्रदा मनीषा समुल्लासं तनुते । स देवः सविता प्रचोदयात्, स चेतयतु, धीमहि-हवामहे, मनामहे, ईमहे, उपह्वये, धियः इत्यर्थे सुमतिम्, सुमतीवृधः

मनीविदे, सवितारम्, सत्पतिम् प्रभृतयः शब्दा मानवे प्रतिभामाधातुं भावसम्पदां च विकासयितुं शब्ददारिद्र्यं च दूरीकर्तुमूरीकर्तुं च हिरण्यवर्णां सत्यराधसं वाचं कियान् मनोहरोऽयं प्रयासः।

क्वचिद्वेदस्य उपदेशदृष्टिरादरणीया भवति-यथा अथर्ववेदे-२-१५ द्यौश्च पृथिवी च, सूर्यश्च चन्द्रश्च यथा न भयं कुर्वाते नैव च क्रोधम्, स्वकीयं स्वकीयं नियमबन्धनमासाद्य सर्वे देवा मनीषिणश्च स्वकार्यं प्रपूरयन्ति। एवमेव धर्मं निष्कारणं सेवमानः पुरुषः ख्यातिं समृद्धिं चाधिगच्छति। कियान् मनोहरः प्रोत्साहनदक्षश्चायं मन्त्रः—यथा सूर्यश्च चन्द्रश्च न विभीतो न रिष्यतः। एवा मे प्राण मा विभेः। सूर्यश्चन्द्रो वा न कमपि प्रति कोपं तनोति नैव वा सक्रोधस्य भृकुटिभंगमासाद्य भयविकलो भवति, स तु स्व स्वीकृतं व्रतमेव नियमतः पालयति, एवमेव सुमनोवता पुरुषेण नैव भय नैव वा क्रोधः प्रकटनीयः, स्वत एव तत्त्वतः स्वीकृतं व्रतं प्रपूरणीयम्।

क्वचिद् गुणश्लाघया वस्तुसम्पदुद्घाट्यते-यथा-अथर्ववेदे पृथिवीसूक्ते-द्वादश काण्डे दीक्षा, तपो, ब्रह्म, सत्यम्, ऋतम् एते धर्माः सम्यक् परिपालिता मातरं पृथिवीं रक्षन्ति, रक्षिता च पृथ्वी मानवेभ्यः सुखसामनानि सूते। इयं कल्याणरमणीया पृथिवी विश्वंभरा, वसुधानी, प्रतिष्ठा, हिरण्य-वक्षा, जगतः निवेशनी, कियन्निष्ठादायकं प्रतिष्ठाप्रभावं च वचनम्? अनेनैव प्रकारेण ब्रह्मचर्य - सूक्ते (११-५) प्राणसूक्ते (११-४) अन्यत्र वा बहुत्र देवानुद्दिश्य तेषां भूतगुणधर्माः खल्वपि ख्यापिता भवन्ति। ब्राह्मणो हि अग्निवत् विषय-प्रकाशकः, दोष-दाहकः सम्पत्सु प्रसन्नमना विपत्सु सदैवाग्रेसरः सत्संगेषु दिव्यो मन्त्रणासु भव्यः प्रक ो नेता विनीतो हिंसारहितः शुचिव्रतः क्रान्तदर्शी भवेत्। क्षत्रिय-श्च इन्द्र इव सारवान् वज्रदेहः सतत्शुद्धायुधश्चक्रवर्ती विजीगिषुर्गीयमानकीर्तिः सहिष्णुः प्रभविष्णु-श्च स्यात्। एवमन्येऽपि मनुजन्मानो महात्मानो जायेरन्।

देवानामेवाख्यानपराणि पुराणानि ब्राह्मणानि वा उल्लसन्ति, तत्सर्वं सारवता वेदेन सरहस्यं सरलेन यथा विहितं पिहितं च।

संस्कारवान् पुरुषो जानाति-सोमपानं हीन्द्रस्य प्रसिद्धम्-अतो"वायवाहि० ऋ०१-२-१"इति मन्त्रे "इमे सोमा अरंकृता"इति कथनेन संकेतेन इन्द्र एवं आहूयते। यद्यपि सम्बोधने वायुराहूयते-अतः व्याक-रणवता प्राज्ञेन वायुः इति शब्देन इन्द्र एव ग्राह्यः। अर्थश्चास्य हे वायुवद् दीर्घायो, इन्द्र, यद्वा वायुवत् सर्वत्र गमनशील इन्द्र इति योजनीयः यास्कः परामर्शं ददाति-एवम् अन्यमन्त्रे नियतति स निपातदेवो भवति।

विष्णोस्त्रेधा पदनिदधानमपि चेतनावता विभावनीयं भवति। पुरुषः खलु संसार एव दत्तरुचि-र्निरन्तरं रुचिरां प्रचुरां च मायामाहरति परं कस्य कृते? कथम्? सर्वं विचार्य परीक्ष्य लीलालोलं कपोलमार्द्रं करोति, संसारागारे पचन्तमात्मानं न शक्नोति वीक्षितुम्, अतः योग-प्रदीपं दीपयति, अयमेव

वीतशोकसन्दोहस्य निर्मोहस्य विष्णोः प्रथमः खलु चरणपातः। अद्यापि आस्वादितरसा तृष्णाश्च तं मोहयन्ति, कामना-वात्या तं ज्वलन्तं योगप्रदीपं निर्वापयितुं यतते। अत्र चास्य भवति पुनर्जागरणम्, कर्णसुखा वेदवाचस्तमुल्लासयन्ति। एहि-एहीति तं सुवर्चसो गायत्री वचना मेधाविनो ज्योतिंषि तन्वन्ति, अत एवास्य परिद्रष्टुरयं विष्णोर्द्वितीयश्चरणपातः। एतन्मेऽमृतपानम्, सुलाभो मे, चन्दनलेपो मे, समस्तेयं पृथिवी सुवर्णपुष्पा जाता, इति परमे व्योमनि आत्मानन्दे रममाणस्य तृतीयश्चरणः। प्रथमे परांगमुखता, द्वितीये ब्रह्मण्युन्मुखता, तृतीये ब्रह्मावाप्तिः इति अध्यात्मपक्षे त्रेधा निदधे पदम्।

एवं बहुषु मन्त्रेषु प्रश्नोत्तरया दिशा चाज्ञात् ज्ञापनं विधीयते। मुखं किमस्यासीत् (यजु०-३१-१०) **ब्राह्मण एव मुखवत् प्रमुखः. क्षत्रियो बाहुः**, लोकयात्रा-निर्वाहदक्षः, वैश्यो जगद् बेवेष्टि शूद्रश्चाशु **द्रवति। अन्ये बहवो मन्त्राः समस्यामास्थाय प्रपूरयन्ति** मनोरमयन्ति च।

वेदानामयमपि कथनप्रकारो यद् विशेषणमुखेन वस्तु प्रतिपादयन्ति-इन्द्रं जेतारम्-अपराजितम्, (ऋ०१-११-२) कविमग्निमुपस्तुहि सत्यधर्माणमध्वरे (१-१२-७)आशीर्वन्तः सुता इमे (१-२३-१) प्रभृतयो मन्त्रा अत्र क्षणे क्षणे कौशलमावहन्ति।

पुराणानि कथयन्ति सहस्रनेत्रः खल्विन्द्रः। आचार्य–चाणक्यः परामर्शं ददाति (अर्थशास्त्रस्य प्रथम अध्याये) इन्द्रस्य सभायामृषीणां सहस्रम्, स खलु द्विचक्षुः, परं सहस्रैर्ऋषिभिः परामृशति, अतः सहस्रनेत्रः सः। एतस्यैवार्थस्य सूक्ष्मं सूत्रं निदधाति ऋग्वेदः-इन्द्रोविद्यात् सह ऋषिभिः (१-२३-२४) एतयादृशा बहवो मन्त्रा व्याख्याता भवन्ति।

इन्द्रं "सुरूपऽकृत्नुः" इति (१-४-१) इति वेदः कथयति। अस्यैतदेव तात्पर्यं यत् वेदानुवचनेन अनुध्यानेन च मनः पद्मायते, नेत्राणि कमलायन्ते स्वच्छान्तःकरणे परमात्म – प्रीतिः सपुष्पा मोदमाना लभमाना आनन्दम्, आनन्देन भग्नावरणा चितिशक्तिर्नितरां हर्षविकासं मनुते तनुते च मणिप्रभेव प्रतिभाम्। अतस्तस्य प्रकाशानन्दस्फुरणकायस्य निर्मायस्य निर्माय आनन्दनीडं मुखं हर्षातिरेकेण किरणावदातं भवति अत एव इन्द्र एव मानवस्य मुखं शोभनं सुन्दरं च करोति।

व्याख्यातारः केचनं मन्त्रं कर्मकाण्डपरमेवाहुः अपरे गुणवादमाश्रित्य विज्ञानमेव गवेषयन्ति, इतरे गणितं ज्योतिषं वा, साहित्यरसिकाः काव्यानन्दं जनयन्ति वेदध्वनौ, वेदाध्वनि केचन तर्ककर्कशां वाचमुन्नयन्ति परे सांख्यं वा योगं वा वेदान्तं वा व्याकरणम् वा आचारणं वा वेदादानयन्ति।

एतत्सर्वमभिनिपीयापि न खलु भाष्येषु आदरो निबध्नाति पदम्, यतो हि एकस्मिन् पक्षे सिद्धे सति अन्यः पक्षः प्रतीक्षते, न्यायं च कामयते। अतः अपरा परारूपेण वेदो विभज्यते। अपरा विद्या खलु वेद एव। यदा वेदः साधनरूपेणावस्थितः पुरुषस्य ज्ञानं वर्धयति, सत्वपरमाणून्

उत्थापयति, तदा पुरुषे परा योग्यता जन्यते, अनन्तरं ब्रह्मप्राप्तिः फलमस्य सूयते। इयमेव परा विद्या-फलरूपा उच्यते। इयमेव वा उपनिषच्चोच्यते। उपेत्य प्रत्यक् चैतन्याभिन्नपरमात्मानमधिगम्य अविद्या-ग्रन्थिं शातयति, शिथिलयति, मोक्षं गमयति, इति उपनिषत्, अतस्तत्प्रतिपादकेषु वेदेषु उपनिषद् इति प्रयोगः साधीयान्।

ये खलु संशोधितकलमषा मोघकर्माणोवृथासंकल्पाः कुत्सितजन्मानः कर्मार्द्रहृदयास्तेऽपि पावनं वेदसम्पर्कं संसाध्य शुद्धिकामाः शुद्धिकारणमनलसम्पर्क इव लोहस्यात्मानं पावयन्ति प्राप्नुवन्ति च। एतादृशं पात्रं निधानं च भवति यतो हि निधीयतेऽस्मिन्छ्रेयः।

प्रकृति हि अचेतना सांख्यैरभिधीयते। सा खलु सांख्यपरिकल्पिता त्रिगुणात्मिका प्रकृतिरचेतना सती कथमिव विचित्रकर्मविपाकपरिपच्यमानानां कृते प्रवृत्तिकारणतां भजते ? कथं वा देवमनुष्यपशुति-र्यक्प्रभेदभिन्नं भुवनं वा निर्मातुं शक्नोति ? रथादीनामचेतनानां स्वतः प्रवृत्तिः कुत्र दृष्टा ? अतः चेतनाधिष्ठाता एव ते प्रवर्तन्ते अतो भगवताऽभाणिमयाध्यक्षेण प्रकृतिः।

अतो मृत्युग्रस्ते संसारवर्त्मनि वेद एव वेदत्वं प्रतिपादयति। ये ये भाष्यकारास्तान् प्रतिनुमस्तावत्।

परं प्रपंचोऽयमुदञ्चति। पतञ्जलिः प्रमायति न च सर्वं लिगैः सर्वाभिर्वा विभक्तिभिर्वेदे मन्त्रा निगदिताः, तेचावश्यं यज्ञगतेन पुरुषेण यथायथं विपरिणमयितव्याः, तन्नावैयाकरणः शक्नोति यथायथं विपरिणमयितुम्, तस्मादध्येयं व्याकरणं, एतस्य प्रयोजनमेतत्, यत् वशिष्ठ–वामदेव–जाबालि–विश्वा-मित्र–बृहस्पति प्रभृतयस्तत्रभवन्तो ब्रह्मर्षयो न वेदभाष्ये तथा यत्नमकार्षुर्यथा वेदसाधनग्रन्थे। ते सम्प्र-दायेषु ब्राह्मणान् विभज्य मन्त्रांश्चासाद्य सम्प्रदायान् वितेनुः एवं ब्राह्मण–उपनिषद्–दर्शन–व्याकरण-निरुक्त-च्छन्दोज्योतिः शिक्षा-कल्पप्रभृतयः सम्प्रदाया विरेजिरे। तेषु तेषु च मन्त्रेषु विविधेषु सम्प्रदायेषु मन्त्रा विभक्ताः पठ्यन्ते, एक एव च मन्त्रः विविधेषु सम्प्रदायेषु भिन्नान् अर्थान् निर्वदति। ते सर्वे सत्याः आर्षेण दृष्टत्वात्, आम्नातत्वाच्च। 'सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्तसिन्धवः' अत्र सप्त-सिन्धवः,इत्यस्य कोऽर्थः। वैयाकरणा आहुः सप्त विभक्तय इति,योगिनश्च यमनियमादयः सप्त समाधिं जनयन्ति, सांख्या जगुः सप्त–प्रकृति विकृतय इति, जैमिनिभक्ताः सप्त होतार इति धन्वन्तरि शिष्या सप्तधातव इति, सेना-प्रकरणे सप्तप्रकाराः सैनिकाः (मरुतः) इति ज्योतिर्गणिते सप्त-ऋषयः इति एवं नानाप्रभेदभिन्नेषु संप्रदायेषु विभक्तान् मन्त्रप्रवादानाश्रित्य कः खल्वैकस्यापि उष्ट्रभारभूतस्य मन्त्रस्य व्याख्यासंग्रहं कर्तुं शीलयति व्याख्यातुं वा समर्थो भवितुमर्हति।

एते मन्त्रा मननं त्रायन्ते। यथा यथा पुरुषो मन्त्रं सारवत्या मत्या निभालयति तथा तथा मन्त्र-विज्ञानं ज्योति र्वा लभते। पुरा कल्प एतदासीद् देहेऽपि विदेहतां धारयन् पुमान् मन्त्रदत्तदृष्टिर्नवार्थ-सृष्टिं करोति। सम्प्रदायं च पुष्णाति। अद्यत्वेऽपि मधुकरा इव मकरन्दलिप्सवः पिपासवः मन्त्रछत्रे मधु गवेषयन्ति।

लोकाय एव वेदः खलु लोकतः प्रसिद्धमाप्नोति लोके च येष्वर्थेषु प्रसिद्धानि पदानि तानि सति यतो हि वेदत एव लोकधर्मसिद्धिः। लोके विश्वभरण-पोषणकर्मणा राजा 'भरतः' इत्युच्यते, वेदे खल्वपि प्रायमग्नि र्भरतस्य भरणपोषण शीलस्य अग्नेः श्रूयते। यज्ञादिना पूजितः प्रशंसितश्चाग्निर्विश्वानि भूतानि प्राणिनश्च संवर्धयति। स्वानि स्वानि मतानि सम्प्रदायदग्धदृष्टयो मानवाः स्वं प्रयोजनं स्वार्थ-साधनं वा भाष्यकारा गवेषयन्ति। निकटवन्तं मन्त्रशब्दं मनसि निधाय स्वसम्प्रदायपोषकं मानवं वेदे बोधयन्ति। लघ्वपि स्वरसन्देहजातं तदिदमेषां महते प्रचाराय भवति, समग्रं वा येन तपसा मन्त्रे विज्ञानं ज्ञापयन्ति तथैव दोषानपि वेदपक्ष एव निक्षपन्ति। वेदे सर्वा विद्याः सन्ति, इत्यस्माकमपि धारणा, परं यः पुरुषो यस्य वस्तुनो धर्मस्य वा यथार्थद्रष्टा भवति स एव तं विषयं मनीषिया भास्वरं मन्त्रस्वरं परिलभते। मन्त्रे स्वरवादो देववादः ऋषिवादश्च प्रचुरेण चतुरेण ऋषिपरम्पराचक्रेण निहितो विदितश्च।

मन्त्रदेवता एव मन्त्रस्य विषयः, तत्र वस्तुधर्माः प्रकाश्यन्ते, अथ च सर्वाण्येव नामानि ईश्वरस्य विषये गुणधर्मख्यापनानि, अनोऽध्यात्मरुचिः पुरुषस्तेनैव मन्त्रेण मनो महेश्वरे प्रवेशयति, वस्तुधर्माश्च प्रकाशयति। अतो मन्त्रवता पुरुषेण देववता ऋषिवता काव्यवता छन्दोवता च भाव्यम्।

वेदस्य काव्यं नितरां प्रौढिं भजते। शुचिस्मितां वाचं प्रति सुमनस्कः पुरुष इव, द्युमतीं प्रतिभां प्रति आत्मैव, कमलायताक्षीं सुवसनां सोत्सुकां कामिनीं प्रति उत्सुकस्तरुण इव रोचमानामुषसं प्रति सूर्यस्यानुगमनं रोचते सहृदयनां गुणलुब्धे चेतसि। मरुतो गमननिमित्तं लक्षयित्वा स्त्रिय इवात्मानं शोभयन्ति। विचित्रैरलंकरणैरेषां शुभलक्षणानां वक्षांसि द्योतन्तेऽथापि वज्रसदृशेषु हस्तेष्वेषां विद्युन्महस ऋष्टयो द्योतन्ते। अग्निः खलु नदीतटे हंस इव, काष्ठेषु गुप्तो मणिरिव, सिन्धूनां भ्रातेव, संदर्शनः सूर्य इव, पयः पूर्णा धेनुरिव शुचिर्दुग्धप्रवाह इव, स्तुनः ऋषिरिव, रमणीयः खलु निवास इव, स्नातश्चाश्व इव, प्राणप्रदो वायुरिवायुः प्रभृतीनि उपमानवचनानि न केवलं चेतो रंजयन्ति, अपितुविमले सोत्सुके मानवहृदये भावसंपदामानयन्ति शब्दसमृद्धिं च वर्धयन्ति। वस्तुदृष्ट्वा सचेतसः पुरुषस्य हृदयं वाचं स्पन्दयति। वेदानां अत्र विषये प्रभविष्णुतया योगदानम्।

गीतरसिकः खलु पुरुषः पुरुकामश्चः। बहुविधानभावानासाद्य साधितवेशः कल्पनाकेशं संवारयति कोषं चोदञ्चयति। वेदानामत्र योगदानं तु महद् रोचकं तनुते।

इन्द्रविषयेऽग्निविषयेऽन्येषु वा देवेषु विषये शोभनतया उक्तानि सूक्तानि कस्य रहस्यवेदिनो मनो न मोहयन्ति? स्वराज्यस्य अर्चना-प्रसंगे वेदेन च यद्गीतं तत्तु जगत्स्रष्टुर्महती स्वाभिमानविषये राष्ट्रोत्थानविषये चोद्भावना। किमधिकं जीवनमाश्रित्य बहूनि सूक्तानि परं मरणविषयेऽपि यदुक्तं न कुत्रापि केनापि कविना तद्रहस्यभूतं यम-सूक्तं प्रप्रेरितम्।

श्रुतिस्तु मातेव सरलया गिरा बालकं चालयति, शय्यागीतं गायति, विविधा प्ररोचना मनसि स्थापयति, पुरुषे पौरुषं विपुलयति, अतः सावधानेन चक्षुषा समर्पितेन चेतसा वेदसरोऽवगाहनाय प्रह्लादनाय च। वेदे या चारुता शब्दं शब्दं प्रति राजते सा तु तद्गतेन मनसैव रसनयोग्या। इत्थमेव रस चर्वणा वर्हेण मयूरं प्रति मयूरीव चंगानि अंगानि चययति।

अथ यानि भाष्याणि सुधियां राजन्ते तान्यपि सति सम्भवे द्रष्टुं योग्यानि। अयं प्रयासस्तु रजः प्रोक्षणमिव वेदार्थरतानाम्, यथा रजोरहिते मणौ प्रकाशानन्दाविर्भावस्तथैव कुमतिकृतटीकाभिरारूढे रजसि मन्त्ररत्नक्षालमावश्यकम्। अत एव काले सूक्तिसहस्रारम्भिमंहारम्भियरम्भो विधीयते। तेन मन्त्रा वेदाश्च सुरक्षिता भवन्ति। मन्त्रार्थोऽपि दाप्यते।

एतत्तु नः प्रियम्। आदौ काले कः खलु भाष्यकार आसीत्? येन् मन्त्रावबोधनेऽन्यांश्चोन्मुखीकरणे प्रयासो विहितः। अत एव उच्यते-साक्षात्कृत-धर्माण ऋषयो बभूवुस्तेऽपरभ्योऽसाक्षात्कृत-धर्मभ्यो हि उपदेशेन मन्त्रान् ग्राहयामासुः। अथ चानन्तरं वेदं वेदांगानि दर्शनानि पुराणानि अन्यानि वा साधनानि प्रीत्या निर्मितानि सेवितानि च। सर्वे तत्र भवन्त ऋषयः स्वां स्वां वृत्तिं प्रवृत्तिं च मेलयित्वा वेदार्थान् धारयाञ्चक्रिरे। साम्प्रतमपि तांस्तान् धर्मानाश्रित्य तथाविध उपायः करणीयः यथा वेदसंसारयोर्मध्ये सहजः सम्बन्धः स्यात्। यतो हि पुराणान्यपि वेदमेवाधारीकृत्य संसारे प्रवृष्टानि परं कल्पनासंभारयोजनया तानि क्वचित् क्वचिद् वेदादपि दूरं गमयन्ति। वेदार्थश्च रहस्यभूतो जायते। अतो हृदा मनसा मनीषया वेदार्थोद्भावने स्वाभाविकः सहजश्च सम्बन्धो बन्धुवर्ग इव उत्सर्गानन्दं जनयति। जनयतु नः शान्तिः, जनयतु नः सोमरसायनं येन उमया सहितं महेश्वरस्य प्रतिभासकं ज्ञानं जायेत। इन्द्रस्येव सोमपानं सर्वस्य कृते सुलभं सुखदं शुभानि ईश्वरप्रतिपादकानि खानि-इन्द्रियाणि तेषां दम् दाता, शोधयिता च भवेत्। नमः परमर्षिभ्यः।

□

मुम्बापुरीनगरे विद्वद्गोष्ठीमध्ये सत्कृतोऽयं निबन्धः —

विदेशेषु संस्कृतम्

—डा० भारतभूषण विद्यालङ्कारः
प्रवक्ता—वेद-विभागस्य
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालयः

'वाचा विरूप नित्यया' ऋ. ८, ७५, ६, 'जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसम्' अथर्व०-१२-१-४५, 'उदु त्ये मधुमत्तमा गिरः' २०. ५९. १ प्रभृतिषु मंत्रेषु भाषाणां वैचित्र्यं, वैविध्यं वैशिष्ट्यं च प्रतिपाद्यमानं दरीदृश्यते। 'ब्यैलबाः' अथर्व. १२-१-४१ इति शब्दं निरीक्ष्य तु महती विचिकित्सा बुभुत्सा चोन्मिषति प्रतीयते पुरा लप् धातुरिव कोऽपि लब् धातुरपि परिभाषणे वाच्यविषयतामवतरति स्म। उत्तरभारते-ऽधुना खल्वपि विवाचसे जनाय 'लब्' धातो र्मिश्राः शब्दाः प्रयुज्यन्ते। तद्यथा 'लबाडुः' इति। ओष्ठार्थे वचनसाधके चाङ्गलभाषायां 'लिप्' शब्दस्य प्रयोगः क्रियते।

कथङ्कारं शब्दा विकृतिं भजन्ते कथं वा वृद्धिं लाघवं वाऽऽसादयन्ति, केन कारणेन वा भाषासु नियमानुसारं निर्णियमं वा परिवर्तनं जायते, एतदर्थमेव पुरा सम्प्रदायेषु निरुक्तसम्प्रदायस्य महत्ता प्रशस्तिश्च स्वीक्रियते। तंत्रवार्तिके, नाट्यशास्त्रेऽन्येष्वपि सम्प्रदायेषु भाषातत्त्वविचारे महतां तत्रभवतामृषीणां शास्त्रकाराणामाचार्याणां च साधीयसो वाचोयुक्तिः प्रशस्तिं भजते।

'यः पर्वतान् प्रकुपिताँ अरम्णात्' ऋ० २-१२-२ इत्यत्र इन्द्रस्तुतौ ऋषिर्गृत्समदः कथयति कुप-धातुः संचलने वर्तते। वस्तुतस्तु धातुरयं प्रकोपे दृष्टः, एवमेव वपधातुर्बीजपद्धतौ पठितः परं नापित-कर्मण्यपि दृश्यते. हृ धातु र्हरणे पठितः, विहारे, उपहारे, आहारे चापि वर्त्तते, मृङ् धातुः प्राणविसर्जने समाम्नातः परं कान्तावपि श्रूयते यथा कामदेवस्य कृते 'मार' इति। मरुद्गणप्रशंसायां ये चात्मानं जनय इव सालङ्कारं सचमत्कारं शोभयन्ति। भूधातु र्भवे, विभवे, प्रभावे चाप्यभ्यस्यते। अत एव शब्दप्रभास्करो यास्काचार्यः संकेतयति—शवति गतिकर्मा कम्बोजेषु भाष्यते, विकार एनमार्याः पठन्ति शव इति। लब्ध-श्रद्धाञ्जलिः पतञ्जलिरप्याह—सप्तद्वीपा वसुमती, चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्याः तेऽसुरा हेडयो हेडय इति कृत्वा पराबभुवुः, म्लेच्छो ह वा यदपशब्दः, कुमारिलभट्टोऽपि रोमक–यवन भाषा—शब्दानां विचारं प्रतिपादयति। पाणिनिरपि 'यवनानी' लिपिं स्वीकुर्वन् एतद्विषये व्यवस्थां विदधाति।

एवं स्थानप्रभावात्, पवनप्रकर्षाद्, अभ्यासदोषाद्, भाषामिश्रणाद्, परस्परसम्मर्दबलाद्, विरह-विप्लव–जाति–मिश्रण—ऋतुप्रकोपाध्यात्मदोषाच्च भाषासु परिवर्तनं जायते, यस्या बहुविधानि पुस्त-कानि मतसिद्धान्तप्रवचनानि निरुपद्रवाणि जायन्ते।

महाभारतं पुराणानि अन्यानि चैतिह्यप्रमाणानि खलु प्रतिपादयन्ति यत् केचित् समाजदूषका अकृतकारिणोऽपराधिनो देशाद् बहिष्कृता:। ते च यथाकालं यथावसरं च विवशा मनोनुकूलान् प्रदेशानासाद्य स्वे स्वे कर्मणि रतास्तेषु तेषु च स्थानेषु लब्धावस्थाना निवासाञ्चक्रिरे। भूतस्थानं भूटान इति कथ्यते, गोरक्षा गोरखाः सम्पन्नाः, शेषाः शेखा जाता, प्रस्थानाः पठाना इति एवमेव तुराण, किराण, तुरुष्क, महामद, दरद, खुरासान, माकन्द, ताशकन्द, हिरात, किरात प्रभृतयः जनाः साधितजनस्थाना जाताः प्रादुर्भूता वा।

न केवलम् एतावदेव, अपितु विदेशेषु अवस्थिताः शब्दाः स्वकीयानि इतिहासप्रवचनानि प्रभावयन्ति दनुजवंशवृत्तयः डेनमार्क, मगधविलासिनो मकदूनिया, अयोध्यावासिनो अयूथिया, स्कन्द प्रपूजकाः स्कन्धनभ्या (स्कैंडिनेविया), पणिस्थानाः फिनेशियाः प्रभृतयः शब्दाः स्वकीयमितिहासं परम्परां च भूयसः कालादुपन्नालयन्ति विदेशेषु न केवलं निष्काशिता अपराधिन एव निष्क्रान्ता—अपितु कौतूहलबलाद् राजर्षयो महर्षयोऽपि सिद्धा वृद्धा अपि दासा भृतका अपि महीयांसो विद्वांसोऽपि वीक्षितुं, भिक्षितुं शिक्षितुं वा यत्र तत्र बहुत्र भ्रान्ता निर्गतास्तत्रैवावस्थिता वा।

ईराण देशीया हेलमुत प्रभृतयो विद्वांस एवमाह—ईराण प्रदेशस्तु आर्याणामेव आर्याणामयनमिति कृत्वा आर्यायणमेव 'ईराण' इति भणन्ति। एवम् आवागमन स्थानमेव अफगानिस्तान इति च परामृशन्ति। अपरे विदितवेदितव्या जाति—शब्दविज्ञान—रसायना बोधोपायना एवं खल्वाहुः आयनान्ता ब्राह्मणाः सर्वे ईराण—भारतमध्यवासिनः, आपगायन शब्द एव अफगानिस्तान—शब्दस्य पूर्ववर्ती, तत्र लामकायन (लाम गायन) प्रान्तस्योपलब्धेः एवं प्रतीयते पाणिनिनिर्दिष्टा, लमकगोत्रीयाः श्रोत्रिया ब्राह्मणास्तत्र न्यवसन्। एवमेव शाकटायन, कात्यायन, शांकायन प्रभृतयः शब्दाः खल्वपि स्वकीयं महिमानं साभिमानं प्रवर्तयन्ति। सीरिया—असीरिया—असुराः प्रभृतयः शब्दा देशा वा तथैव स्वहृदये सचमत्कारं रहस्यं धारयन्ति भारतस्य च माहात्म्यं प्रकटयन्ति। बोगाज-कोई भागे लब्धः शिलापट्टलेखोऽपि वेद देवतानां नामग्राहं कीर्तिं पुष्णाति। तत्र सन्धावुल्लिखितं च सन्धिममुं द्वयोर्देशयो देवाः कृपया रक्षन्तु मित्रावरुणावश्विनौ इन्द्रश्च। एवमेव मिश्रदेशे श्मशानखातेषु स्थितौ श्वानो सप्तर्षयो द्वादशादित्यानां चर्चा च अर्चाविषयतां सम्यग् अवतरति। रोमक (इटली), यवन (यूनान) स्पेन—फ्रांस प्रभृतिष्वपि देशेषु चायमेव समानश्चर्चः।

अविनाशचन्द्रदासः 'वेकनाटाः पणयः' शतारित्रां नावमातस्थिवांसः सार्थवाहतां गाहमाना विश्वस्य पूर्वे सिद्धजलयाना आसन् इति स्वकीये 'ऋग्वैदिक—इण्डिया' नामके ग्रंथे प्रतिपादयति।

पश्चिमेभागे तुर्की—देशे 'बोगाजकोई' स्थले 'मितानी' जनानां सन्धावुल्लेख एवं प्रतिपादयति—अयं 'मितानी' शब्दो 'मैत्रायणी' शब्दस्यैव भ्रष्टं रूपं भजते। तत्र राज्ञः 'मति ऊजा' नामापि 'मित्रौजाः'

संभवति। अहरभिमानिनो देवस्य नाम च मित्र इति प्रथितमेव।

अथर्ववेदस्य ५-१८-४ तैमात[1] शब्दं दृष्ट्वा महामहिमशाली तत्र भवांल् लोकमान्यस्तिलकोऽपि भ्रान्तिं जगामेति भारतललाट-तिलकायमानस्य, विमलविपुलबुद्धेः श्री तिलकस्य निबन्धः भाण्डारकर-स्मृति-ग्रन्थे—'काल्डियन-वेद' नाम्ना प्रकाशितः। यत्रासौ प्रतिपादयति यत् काल्डिया देशे एको महान् सर्पः प्रसिद्धिं गतः। यस्य नाम 'तियामत' इति स्मरन्ति, यश्च सप्तशिराः प्रलम्बशरीरस्य पातालवासिनस्तस्यैव सर्पस्य विवरणमथर्ववेदे लभते'। तस्य सर्पस्य हननकर्ता 'अब्जुजित्' इति पदेन स्वर्यते।

एतत् सर्वमभिनिभाल्य प्रतीयते 'अब्जुजित्' शब्दः खलु वेदस्य 'अप्सुजिद्' एव। यश्च इन्द्रार्थे प्रसिद्धः इन्द्रश्च सप्तहा, वृत्रहा, सोमपा, प्रभृतयः शब्दा वेदानामेव माहात्म्यं गणयन्ति यतोहि प्रसिद्धिगत इन्द्रो भारतीयानामेव प्रमुखो राष्ट्रव्यापी नेता। एतेन स्पष्टम् एतेऽन्ये च बहवः शब्दाः पूर्ववत् देशं स्थानं, कालं चाशाद अधुनापि मधुमतीं भूमिकां विश्वसंस्कृतौ तन्वन्ति पुष्णन्ति च भारतस्य सौरभ्यं सौष्ठवं च।

एते चान्ये च एवं जगुरार्या उत्तरभ्रुवप्रदेशाद् भारतदेशे लग्ना मग्नाश्च। तान् प्रत्यपि सुहृद्भूत्वा भारतीया आचार्या न तत्र आर्यजीवनसंकेतं स्थानं ग्रन्थं तीर्थं वोपलभन्ते। एतत्तु सत्यं भारताद् गतानां सततनां तत्र तत्रान्येषु देशेषु नगराणि, गृहाणि मंदिराणि सूचयन्ति भारतप्राग्भावितानाम्। मंगोलियादेशे गायत्री-मन्दिरम्, इन्डोनेशिया देशे रामायण-महाभारतकथासंकेताः, कम्बुज-श्याम-वीतनाम देशेषु बुद्धमन्दिराणि-मैक्सिको देशे गणेश-मन्दिरम्-जापानदेशे सूर्य-पूजा, चीनदेशे बुद्धप्राधान्यम्, तुर्कदेशे संस्कृत-ग्रन्थ-लाभः, रूसदेशे वैदिकप्रभावः, ईराणदेशे वेदानुवचनानि किमधिकम् यत्र-तत्र सर्वत्र दरीदृश्यते भारताद् गतानामार्याणां कर्णप्रियाण्याख्यानानि, निरुपद्रवाणि चाचरणानि। भारत-संस्कृते संस्कृतस्यैव जयघोषः शर्मण्यदेशे डिण्डिमायते। अंग-वंग कलिंगवत् तेष्वपि शास्त्रपत्रेषु लिखितानि राजर्षिमहर्षीणां चरितानि वचनानि च।

अत्र देवशब्दानां अनेकानि उदाहरणानि प्रदीयन्ते—

अग्नि—लैटिनभाषायां इग्-निस् (लिथुएनियन भाषायां) उग्निस् (रूसीभाषायां) ओगोन सञ्जातः।

हिन्दीभाषायामपि 'आग' अयं शब्दः प्रयुज्यते।

वरुणः—ग्रीकभाषायां व स्थाने सम्प्रसारणो भूत्वा—उरेनस्—यूरेनस् इति भूतः।

पितरः—आदिमः पिता द्यौ एव द्यौस्पितरः— (ग्रीक भाषायां) जुएसपेटर (लैटिन-भाषायां) जुपिटरः सञ्जातः। परं लैटिनभाषायामेव श्राद्धयोग्याः पितरः "दि पेरेन्टीज" भूतः।

---

१ अथर्व० ५-१३-६ इत्यत्रापि।

यह्वः—(ऋग्वेदे-विश्पति यह्वमतिथिं नरः (३.३,८) प्र वो यह्व पुरुणां विशां (१.३६.१) शब्दः निघन्टौ महत्वाची शब्देषु लिखितः एष एव शब्दः हिब्रू-भाषायां (ओल्डटेस्टामेन्ट) परमाधिक्येन प्राप्नोति । एष हिब्रू देवः 'यहोवा', 'यह्वेह', 'यह्वे' अस्ति । यहोवा (JCHOVAH) शब्दस्य हिब्रू भाषायामपि अर्थः परम महान् एवास्ति ।

गॉड—ख्रिष्टीय गॉड (GOD) शब्द अपि स्पूटानिकभाषायाः 'घूतोम्' (GHUTOM) शब्दान्निष्पन्नः । घूतोम् शब्दस्तु संस्कृतभाषायाः 'हुत्' शब्दान्निष्पन्नः, यच्च हु, ह्वेञ् आदि धातुभिः प्राप्तुं शक्यते । 'दि ग्रेट ऑक्सफोर्ड इंग्लिश डिक्सनरी' इत्यभिधे ग्रन्थे एष एव भाव अङ्गीकृतः ।

मित्रः—मिथ्रः । अर्थवन्–अथ्रवन सञ्जातः ।

पारसीकेषु तु जरथुष्ट्र पूर्वम् सोमेन (अवेस्तायां) 'हओमेन' देवपूजाविधीयते स्म । वेदस्य 'यमवैवस्वतः' अवेस्तायां "यिम विवन्ह्वतः" सोमानुष्ठानकुशलशरीरो मृत्योर्मार्गं विहाय स्वर्गं भूषितवान् । वेदस्य अर्य्यमन् तत्र एरयमन् अभूत् । भगस्तु भग एव ।

जरथुष्ट्र मतस्य प्रभावादसुरमहत् 'अहुरमज्दा' सञ्जातः परं अर्थस्तु स एव महान् प्राणदाता परमात्मा इत्यर्थः । ऋग्वेदे असुरः पिता नः (५.८३.६) वैदिकऋत 'अर्त' शब्दे परिवर्तितः तेल-एल-अमर्नाया: शिलालेखे (१४०० ई० पू०) एष उपलब्धः । ऋतस्य पन्थाम् न तरन्ति दुष्कृतः तत्र 'अश्' (ऋत) स्तुतौ कथितम्—"अएवो पन्ताओ यो अशहे, वीस्पे अन्य एसां अपन्ताम् ।

मुस्लिमदेशेषु ते जना अद्यापि जश्नं कुर्वन्ति, एषः जश्नः वस्तुत आर्याणां यज्ञ (य+ज्+ञ) एव विद्यते । अवेस्तायां स एव यश्नः पुनश्च जश्नः समजनि । तेषां स्त्रियः स्वभर्तारं 'खसम' इति शब्देन उच्चारयन्ति । आर्यपुत्रशब्दस्थाने 'खसम' शब्दः संस्कृतिर्बहुलः विद्यते । खः आकाशः 1 तद्वत् । वेदेषु माता-भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः' तथा विवाहसमये पण्डिताः पठन्ति "द्यौरहं पृथिवी त्वं ताविह विवहावहै प्रजामाजनयावहै (वृ० ३. ६. ४.२०) यथा द्यौः भूमिमाच्छाद्य तां जलेन सिञ्चति वीर्यवतीं च करोति । तथैव पतिरपि स्त्रियां सिञ्चति, पुत्रादिभिः संयोजयति ।

इत्थं वक्तुं पारयामः यत् संस्कृतभाषादर्पणे वयं सम्पूर्णमपि लोकं पश्यामः । सर्वत्रैव सर्वासु भाषासु, विशेषतश्च सतम् वर्गस्य, संस्कृतशब्दाः स्वरूपपरिवर्तनं विधाय तस्य लोकस्य तस्याः भाषायाः सुतरां सेवां कुर्वन्ति । तत्र च अस्माकं एते शब्दाः राजदूता इव अस्मान् गौरवास्पदान् कुर्वन्ति ।

स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवा इति, भगवतो मनो सन्देशं उद्देश्यञ्चाभिनिपीय श्रेष्ठाः पुरुषाः समस्तायां जगत्यां सञ्चरन्तः भाषां भावं संस्कृतिमध्यात्मं च सर्वेषु दशेषु रोपयामासु । एवं आदिकालत एव इयं संस्कृत–सञ्चार–प्रचार–व्यवस्था सर्वत्रैव सञ्चरति न तु केवलं प्रथम महायुद्धसमये । अधुनापि गायका, वादका, नर्तका नटा–नेतारश्च पृथिव्यां सञ्चरन्त अध्यात्मवादीभिः सह देशस्य महतीं भाषां आशां च उद्बोधयन्ति । □

१ आकाशः परमात्मापि आकाश उच्यते, आ समन्तात् प्रकाशनात् ।

उज्जैनस्थ विक्रमविश्वविद्यालये कालिदास–समारोहे आयोजितायां संस्कृत–वाद-विवाद–प्रतियोगितायां भाषणमिदं प्रथमं पुरस्कृतम्—

भारतस्यैकमात्मानं सीमानञ्च यथायथम् ।
न कालिदासादपरः कविर्दर्शयतेतराम् ॥

विपक्षेभाषणकर्त्ता— **दूधपुरी गोस्वामी**
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालयस्य
संस्कृत-विभागस्य छात्रः

अयि ! प्राच्यार्वाच्य विद्यानिधयः, गीर्वाणवाणीविलासोल्लसन्मानसः, मान्याध्यक्ष-महाभागाः ! विधिविधानपारंगता निर्णेतारः ! कालिदाससमाराधितस्य कालिकान्तस्य महाकालस्य व्यासपीठमधिष्ठिताः संस्कृतानुरागिणो विद्वांसश्च । अद्याहं अस्यां वादविवादप्रतिस्पर्धायां विषयस्य विपक्षे ज्ञानाक्षिपातं निक्षिप्य किमपि निगदितुमिहे । यद्यप्यत्र सर्वेऽपि पण्डितप्रवराः कालिदासप्रियाः, तद्गुणगाननिरताः, तदाख्यानाऽऽख्यानिपुणाः, तत्साहित्यसमाराधनतत्पराश्च सन्ति, कालिदासविपक्षे आक्षेप-परिकल्पनां परिकल्य विवदिष्यतो मे विचारश्लाघाकरः को नाम विद्वान् । परं विषयस्य विपक्षिणां कृते समायोजकैः मञ्चव्यवस्थेयं कृता एतेन प्रतीयते यत् केचन सन्ति सन्तो ये खलु कालिदास-विपक्षेऽपि कांश्चिद् विचारान् श्रोतुमिच्छन्त्येव ।

मान्याः ! ये खलु मे प्रतिद्वन्द्विनः सोल्लासं, सोत्प्रासं सोत्साहञ्च मुखं व्यादाय विजल्पन्ति, यत् कालिदासादपरः कोऽपि कविः भारतस्यैकमात्मानं सीमानञ्च यथायथं न दर्शयते । मन्ये, तेषां मानसिकी-यन्त्रव्यवस्था विसंस्थुला सञ्जाता । अत एव वराका मे प्रत्यर्थिनः विवेक-प्रच्युता इव, विपर्यस्तमतय इव, हस्तपादविरहितामर्थशून्यां, मूढजनोचितां च वाचमुच्चारयन्ति । अयि,नीरक्षीर-विवेकिनो विद्वांसः ! यः कालिदासः कामदास इव शृंगारैकरसः कान्तारागप्रियः वासनावासितजीवनः, ललितकलाकलापाकलनकुशलः स भारतस्यात्मानं सीमानं यथायथं वर्णयति इति साम्प्रतमसाम्प्रतमिवाभासते । ये मे प्रतिपक्षिणः समाक्षिपन्ति यत् कालिदासः क्वचिद् स्वनायकानां जीवनदर्शनव्याजेन, क्वचिद् पर्वतवर्णनव्याजेन, क्वचिद् नदीरचनाचातुर्येण, क्वचिद् नगरवैभववर्णनव्याजेन च भारतस्य सीमानं दर्शयति, तान् प्रत्यहं कथयामि, यत् संस्कृतसाहित्ये वहवो हि कवीश्वराः भासभवभूतिहर्षाश्वघोषप्रभृतयः सन्ति ! यैः कविभिः स्वसाहित्ये वनपर्वत नगरोद्यानादिनामातीव चारुतया वर्णनं कृतं । किमेतेषां वर्णनमात्रेणैव सीमा निश्चयो भवति ।

मान्याः ! प्रकृतिवर्णनं सामान्यरूपेण कवेःकर्म भवति । प्रकृतिबर्णनं बिना साहित्यं परिपुष्टमेव न । अतः कोऽपि कविः राष्ट्रीयभावनया न प्रकृतिं वर्णयति, अपितु स्वसाहित्यसौन्दर्यवर्धनाय, पाठकानां चित्तानुरञ्जनाय च तच्चित्रणं करोति । केचन कालिदासस्य समर्थकाः निजमतसमर्थनाय तर्क

प्रयच्छन्ति, यत् कालिदासेन रघोर्दिग्विजयव्याजेन भारतस्य सीमाविषयिकी गीतीरेव कवितया समुद्गीता। परं अत्र विचारणीयं किं दिग्विजयमात्रेणैव सीमानिर्धारणं कर्तुं शक्यते, नान्यथा। रघुवंशस्य चतुर्थे सर्गे राजारघुर्यदादिग्विजयं कर्तुं स्वस्थानात् निर्ययौ तदासौ विभिन्नदिग्वर्तिनो नृपतीन् वशीकृत्य तेषां कीर्तिमेव जग्राह न तु तेषां श्रियं सीमानं वा। एतेन प्रतीयते यत् रघोर्दिग्विजयः केवलं रघोः पौरुषमेव प्रथयति, न तु भारतस्य सीमोद्देशान् दर्शयति।

मान्याः! केचन मे प्रतिपक्षिणः वदन्ति यत् कालिदास एव भारतस्यात्मानं बहुशः पुष्णाति। स एव आत्मविषये एकरूपान्वितान् विचारान् विरचयति स एव आत्मनोन्नतिं दर्शयति। एते सर्वेऽपि विचाराः उन्मत्तप्रलापा इव आभान्ति। यः कवीश्वरः आत्मावेक्षणे निर्निद्रो भवति स आत्मानं वेत्ति, स एव ज्ञानविज्ञानवैचक्षण्यमाधत्तं, स एव आत्मनो निगूढतत्त्वं सरलया वाचा वदति। परं कालिदासस्तु आत्मनः एकमपि कलां न कलयति। स तु सर्वदैव स्वनायकानां जीवने तां परिपाटिं प्रवेशयति या मानवानुद्वेजयति या प्रतिपदं विरसान् विधाय विद्रावयति या च सतोऽपि असतो विदधाति। श्रीमन्तः! कालिदासस्य अग्निवर्णाभिधं नायकं को न वेत्ति यो हि प्रजापालनपराङ्मुखः सन् रमणीरमणानुरक्तः पामरजनोचितं वाममार्गं प्रपेदे। अभिज्ञानशाकुन्तले नृपतेः दुष्यन्तस्य चरित्र तु सर्वविदितमेव यो हि आखेटव्याजेन मृगमनुसरन् परिक्षान्त–देहः कण्वाश्रमं विवेश। तत्र च आश्रम–बालवृक्षान् कोमललताश्च भुजोत्क्षिप्तकलशसलिलसेकेन संवर्धयन्तीं प्रकृतिपेलवां, सकलप्रपञ्चविवर्जितां, मुनिकन्यकां शकुन्तलां विषगर्भैर्मृदुलैः पापिष्टजनोचितैः वचनविन्यासैः अतिसंधाय महति दुःखावर्ते पातयामास। एवमेव रघुवंशे वर्णितानां अजदशरथप्रभृतीनां नायकानां चरित्रं कविना कालिदासेन कीदृग्घृणितं, इति सर्वे एव जानन्ति। मालविकाग्निमित्रे अग्निमित्रस्य चरित्रं किं आत्मविदां पुरुषाणं चरित्रलवेनापितुलयितुमलम्। विक्रमोर्वशीये नाटके नायकनायिकयोरन्येषाञ्च पात्राणां यत् वर्णनं उपलभ्यते तद् वीक्ष्य वक्तुं शक्यते यन्नास्ति किमपि आत्मविद् जनोचितमाचेष्टनम्।

मान्याः! कोऽयमात्मा? किञ्चात्मनः स्वरूपम्? का नाम आत्मप्रशस्ति? के सन्ति आत्मोद्धरणोपायाः? अस्मिन् विषये महाकविकालिदासः किमपि न वदति। पुनरसौ आत्मैक्यं दर्शयते, आत्मोन्नतिमातनोति, आत्मसंस्कृतिञ्च परिपुष्णाति, एते सर्वेऽपि विचाराः दुराग्रहगृहिलानां मम प्रतिस्पर्धिनां केवलं आत्मविकत्थनामेव प्रथयन्ति। न तेषां वचांसि मनागपि सारगर्भाणि तर्कपरितुष्टानि, विद्वज्जन–मनोहराणि च मे प्रतिभान्ति। अन्तेऽहं उपसंहृतिरूपेण इत्थमेव समर्थयामि यत् क्वाचिदपि कालिदासः भारतस्य सीमानं यथायथं न दर्शयते, नापि च यथायथं आत्मानमेव दर्शयते। अतः कालिदासं परित्यज्य अन्येषां कवीश्वराणां गुणागणैरात्मानं कृतार्थयन्तु श्रीमन्तः। इत्येव प्रार्थये॥

उज्जैनस्थ–विक्रमविश्वविद्यालये कालिदास–समारोहे आयोजितायां संस्कृत–वाद-विवाद–प्रतियोगितायां भाषणमिदं तृतीयं पुरस्कृतम्—

भारतस्यैकमात्मानं सीमानञ्च यथायथम् ।
न कालिदासादपरः कविर्दर्शयतेतराम् ॥

पक्षेभाषणकर्त्ता—ब्र० सत्यदेव
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालयः
संस्कृत-विभागस्य छात्रः

विविधविद्याविभा विभासितान्तकरणाः ! संस्कृतरक्षाव्रतपरिपालनपारायणाः । प्राच्यार्वाच्यपरिपाटीपारिपोषकाः ! मान्याः ! सदसस्पतयः ! न्यायविद्यापारंगताः निर्णेतारः ! संस्कृतसाहित्यसुधास्वादसरसस्वान्ताः, सरस्वनिरसरसिकाः, श्रोतारश्च ! अद्याऽहं समायोजितायामस्यां भारतस्यैकमात्मानं सीमानञ्च यथायथम् । न कालिदासादपरः कविर्दर्शयतेतराम् ॥ इत्यस्यां वादविवाद प्रतिस्पर्धायाम् विषयस्य पक्षमभिलक्ष्य ज्ञानवतां भवतां पुरस्तात् वक्तुमक्षमोऽपि श्रीमतां शुभाशीर्वादेन किमपि विवक्षुरस्मि ।

सत्यमेव प्रतिभाति यत् कालिदासात् भिन्नः कोऽपि कविश्वरः भारतस्यात्मविषये सीमाविषये च कालिदासप्रथितं विचारचयंमतिशय्य न प्रतिष्ठां प्राप्नोति प्रथितायां काव्यपरम्परायाम् । मान्याः ! कविकुलगुरुः कालिदासो यत्र कविता-वनिता-विलासः तत्रैवासौ भारतस्यात्मनो विकासः सीमोल्लासश्चापि अस्ति । कालिदासः स्वकीयासु सर्वास्वपि कृतिषु वाद्यप्रकृतिमुपवर्णयन् सर्वत्रैवासौ भारतस्य अखण्डतां तदात्मानं च विलोकयति । कदाचिदसौ उत्तुङ्ग–पर्वतान् वर्णयन् भारतस्य आत्मनः औन्नत्यमेव आतनोति, कदाचित् सागरोल्लासमालपन् भारतस्य आत्मोल्लासमेव उल्लासयति, कदाचित् नदीवृन्दं वदन् भारतस्य आत्मनः प्रवाहः सातत्यमेव प्रसारयति, कदाचित् नगरोद्यानवैभवं वर्णयन् भारतस्य विभवतामेव आविर्भावयति, कदाचिच्चश्यामलवनमालां विरचयन् भारतस्य शस्यश्यामलतामेव उपपादयति । एवं प्रकारेण कालिदासस्य चलनेऽपि, वदनेऽपि, लेखनेऽपि, दर्शनेऽपि, स्वप्नेऽपि च भारतस्याखण्डता प्रतिबिम्बितेवाभाति ।

रघुवंशस्य प्रथम–सर्गे यदा कालिदासः इक्ष्वाकुवंशीयानां वर्णनं करोति, तदा आसमुद्रक्षितिशानाम्, आनाकः रथवर्त्मनाम् "इत्युदीर्य स्वर्गपर्यन्तम् अर्थात् त्रिविष्टपान्तं यावत् तु उत्तरस्यां दिशि सागरान्तं यावत् तु दक्षिणस्यां दिशि भारतभुवः सीमाविस्तारं विबोधयति, रघुवशंस्य तृतीयसर्गे यदा नन्दिनी दिलीपस्य सेवाभावं परीक्षितुं इयेष तदा–गौरी–गुरोर्गह्वरमाविवेश इति निगद्य कालिदासः

भारतस्य सीमावर्तितामेव आपुपोष। रघुवंशस्य चतुर्थे सर्गे तु रघोर्दिग्विजय व्याजेन भारतस्य सीमानमेव समन्तात् वर्णयामास। कानिचित् सीमावन्ती मनोहराणि पद्यानि समुदाहर्त्तव्यानि—

वंगानुत्खाय तरसा नेतानौ साधनोद्यतान्। नीचखान जयस्तम्भान् गंगास्रोतोऽन्तरेषु सः॥
गृहीतप्रतिमुक्तस्य स धर्म विजयी नृपः। श्रियं महेन्द्रनाथस्य जहार न तु मेदिनीम्॥
दिशि मन्दायते तेजो दक्षिणस्यां रवेरपि। तस्यामेव रघो पाण्ड्या प्रतापं न विषेहिरे॥
ताम्रपर्णे समेतस्य मुक्तासारं महोदधेः। ते निपत्य दधुः तस्मै यशः स्वयमिव सञ्चितम्॥
पारसीकास्ततो जेतुं प्रतस्थे स्थलवर्त्मना। इन्द्रियाख्यानिव रिपून् तत्त्वज्ञानेन संयमी॥
तत्र हूणावरोधानां भर्तृषु व्यक्त–विक्रमम्। कपोलपाटलादेशी बभूव रघुचेष्टितम्॥
काम्बोजः समरे सोढुं तस्य वीर्यमनीश्वरः। गजलान् परिक्लिष्टैरक्षोटैः सार्धमानतः॥

मान्याः! एवं कालिदासः पूर्वस्यां दक्षिणस्यां प्रतिच्यामुदिच्याञ्च यथायथम् भारतस्य सीमानं एव समुद्घोषयाञ्चक्रे। यथा कालिदासः सीमानं दृढ़यति तथैव भारतस्यात्मानमपि पोषयति भारतीया संस्कृतिरेव भारतस्यात्मा। अत एव कालिदासः प्रतिपदं संस्कृतिमेव पुष्णाति। तस्य सर्वेऽपि नायकाः धर्मपरिपाटीपालनपरायणाः संस्कृतिप्रसारकुशलाः कर्मकाण्डप्रकाण्डपण्डिताः उदात्तभावविभूषिताश्च सन्ति। तेषां जीवने सत्यपि भाषा–विचार–साम्यमेव विलोक्यते—

वर्तमानास्वपि बहुविधासु वेषपरम्परासु स्वभावगतशालीनता तु एकैव विराजते प्रवर्तमानेष्वपि। बहुविधेषु उत्सवप्रकारेषु अतिथिनां सत्कृतिः एकरूपतामेवाकलयति॥

श्रीमन्तः! कालिदासोऽयं कविश्वरः वर्णव्यवस्थां आश्रमव्यवस्थां जन्ममरणव्यवस्थाञ्च सम्यक् परिपोषयन् सर्वेषामपि जीवने भारतीयसंस्कृतिरेकतामेव दर्शयति।

अन्तेऽहं स्वकीयां वाक्सरणिं संहृत्य इदमेव वच्मि, यत् कालिदास एव भारतस्य सीमानं दृढ़यति स एव भारतस्यात्मानं आनन्दयति, स एव गुणगणैर्भारतमाख्यापयति, स एव संस्कृतिगीतिकां गायति, स एव परम्परां परिपाति, स एव च जीवनादर्शान् दर्शयति। कालिदासस्य अखिलमपि साहित्यं भाव–प्रधानं विद्यते, भावास्तु हृदये वसन्ति, हार्दिकीया भावना सा एव आत्मभावना भवति। अतः कालिदासस्तु आत्मकविरस्ति। अन्तेऽहं दृढ़ं समर्थयामि सत्यापयामि च यत्—

भारतस्यैकमात्मानं सीमानं च यथायथम्।
न कालिदासादपरः कविर्दर्शयतेतराम्॥ इति जयतु भारतिः॥

□

नारी का यज्ञाधिकार

—डॉ० सत्यव्रत 'राजेश'
वेद विभाग, गुरुकुल कांगड़ी, विश्वविद्यालय

नारी समाज का भूषण है। वही मानव की आदिगुरु तथा पथप्रदर्शिका है, मानव के निर्माण में जिन तीन सत्ताओं का सर्वाधिक योगदान है, उनमें माता का नाम सर्व प्रथम आता है। 'मातृमान्-पितृमानाचार्यवान्' की श्रृंखला में सर्व प्रथम स्थान माता का ही है, वेद नारी को उच्चासन पर आरूढ़ करता है, किन्तु मध्यकाल में कुछ आचार्य नारी को उस उच्च स्थान से नीचे पटक देते हैं। तथा उसके समान अधिकारों पर प्रतिबन्ध लगा देते हैं, उनके अनुसार स्त्री को न वेदाध्ययन का अधिकार है, न यज्ञोपवीत धारण करने का और न यज्ञ करने का। पूर्वोक्त दोनों बातों पर पुनः विचार करेंगे। इस निबन्ध में तो स्त्री के यज्ञाधिकार विषय पर वेद तथा महर्षि दयानन्द के वेदभाष्य के संदर्भ में विचार किया जायेगा।

अथर्ववेद तथा स्त्री का यज्ञाधिकार—

अथर्ववेद में अनेक स्थानों पर स्त्री द्वारा गार्हपत्याग्नि–सपर्या का तथा यज्ञ करने का उल्लेख है, अथर्ववेद के एक मन्त्र में स्त्री के लिये कहा है कि "यह इस (पति) के घर में पति तथा देवरों का हित चाहने वाली, पशुओं के लिये मङ्गलमयी, सुन्दरतया यम नियमों का पालन करने वाली, उत्तम तथा नियन्त्रण करने वाली, वर्चस्विनी-शारीरिक कान्ति से युक्त, उत्तम सन्तान वाली, वीरप्रसविनी, देवर की कामना वाली तथा सबको सुख देने वाली हो और इस गार्हपत्य अग्नि की परिचर्या करे—यज्ञ करे[1] एक अन्य मन्त्र में स्पष्ट कहा गया है कि 'जब यह वधू पहले गार्हपत्य अग्नि की परिचर्या अर्थात् अग्निहोत्र कर ले तत्पश्चात् यह सास ससुर आदि को नमस्कार करे अथवा वेद का स्वाध्याय तथा बड़ों को नमस्ते करे"[2] अन्यत्र कहा है कि—"दर्भ (बल्बज) बिछाकर उस पर लाल मृगचर्म बिछावे तथा उस पर बैठ कर यह उत्तम स्थान वाली इस अग्नि की सपर्या करे—अग्निहोत्र करे,[3] एक अन्य मन्त्र में भी चर्म पर बैठकर नारी के अग्नि के पास जाने अर्थात् अग्निहोत्र करने का उल्लेख मिलता है।[4]

१—अदेवृघ्न्यपतिघ्नीहैधि, शिवा पशुभ्यः सुयमा सुवर्चाः।
प्रजावती वीरसूर्देवृकामा स्योनेममग्निं गार्हपत्यं सपर्य ॥ अथर्व० १४.२.१८

२—यदा गार्हपत्यमसपर्यैत् पूर्वमग्निं वधूरियम्।
अधा सरस्वत्यै नारि पितृभ्यश्च नमस्कुरु ॥ अथर्व १४.२.२०

३—उप स्तृणीहि बल्बजमधि चर्मणि रोहिते।
तत्रोपविश्य सुप्रजा इममग्निं सपर्यतु ॥ अथर्व १४.२.२३

४—आरोह चर्मोप सीदाग्निम् ॥ वही १४.२.२४

इसी प्रकार एक मन्त्र में कहा है–"इस माता की गोद से नाना आकृति तथा गुणों वाले पशु अर्थात् सन्तानें विविध स्थिति को प्राप्त करें, उत्तम मङ्गलस्वरूप यह वधू इस अग्नि के समीप बैठे अर्थात् अग्निहोत्र करे,1 अथर्ववेद तो यहां तक कहता है कि—पत्नी जो पत्नी रूप में दिखाई देती हैं वह तभी, जब वह यज्ञ करती हो।2

महर्षि दयानन्द का यजुर्वेदभाष्य तथा स्त्री का यज्ञाधिकार—

महर्षि दयानन्द जगती के नवजीवन दाता थे, उन्होंने समाज की गली सड़ी मान्यताओं को विध्वंस करके उसके ऊपर वैदिक समाज का भव्य भवन निर्माण किया,वे नारी जाति के समानाधिकार के पोषक थे। सामाजिक स्थिति में भी वे नारी के–यज्ञाधिकार का उल्लेख अपने वेदभाष्य में अनेकों स्थानों पर करते हैं, यजुर्वेदभाष्य में उन्होंने 'होत्राः' का अर्थ 'हवनकर्मानुष्ठात्र्यः' अर्थात् हवन के कार्य का अनुष्ठान करने वाली कहा है तथा ब्रह्मचारिणी कन्या को उपदेश दिया है कि—'तू भी हमारी भांति अपने सुख देने वाले पति के निकट रहने वाली और अग्निहोत्र आदि का अनुसरण करने वाली हो।3

इसके भावार्थ में इसी तथ्य का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—" जैसे अपने पति की सेवा करती हुई, उसके समीप रहने वाली पतिव्रता गुरुपत्नी अग्निहोत्रादि कर्मों में स्थिरबुद्धि रखती है, वैसे विवाह के अनन्तर ब्रह्मचारिणी कन्याओं और ब्रह्मचारियों को परस्पर बर्तना चाहिये"4

एक स्थान पर सभाध्यक्षों की पत्नी के कृत्यों पर विचार करते हुए कहा है—'हे विद्यायुक्त स्त्रियों! तुम विद्युत् के सदृश मेघ की वर्षा के तुल्य सुखदायक की गति तुल्य चलने वाली,धन की वृद्धि करने वाली तथा यज्ञ में सहाय देने वाली हो।5

यजुर्वेदभाष्य में एक स्थल पर 'पत्नीवन्'6 पद आया है,जिसका अर्थ है "प्रशस्त यज्ञ सम्बन्धिनी पत्नी वाला" तथा 'पत्नीवतः7 का अर्थ भी ऐसा ही किया है।

१–वि तिष्ठन्तामस्या मातुरुपस्थान्नानारूपा पशवो जायमानाः।
सुमङ्गल्युपसीदेममग्निम्० ॥ अथर्व० १४.२.२५ ॥

२–पत्नी यद् दृश्यते पत्नी यक्ष्यमाणा ॥ वही २०.१३५.५ ॥

३–द्र०, यजु० ६.२५ अन्वय ॥

४–वही ६.२५ का भावार्थ।

५–वही ६.३४ अन्वय।

६–पत्नीवन्—प्रशस्ता यज्ञसम्बन्धिनी पत्नी यस्य तत्सम्बुद्धौ, ८.१० यजु० ॥

७–प्रशस्ता पत्नी यज्ञसम्बन्धिनी तद्वतोऽयम् ॥ यजु० १८.२० ॥

स्त्री शिक्षा विषय पर प्रकाश डालते हुए एक मन्त्र में विदुषी स्त्री अन्य स्त्रियों को शिक्षा देती हुई कहती है—"हे स्त्रियो ! जैसे सुशिक्षा को प्राप्त हुई वाणियों को प्रेरणा करने वाली, शुद्ध बुद्धियों को अच्छे प्रकार ज्ञापन करती हुई उत्तम विज्ञान से युक्त हुई मैं यज्ञ को धारण करती हूँ वैसे यह यज्ञ तुमको भी करना चाहिये ।1

इस प्रकार महर्षि दयानन्द का यजुर्वेदभाष्य स्त्री को यज्ञ करने का अधिकार देता है तथा वे स्त्रियां अन्य स्त्रियों को यज्ञविज्ञान की शिक्षा भी देती हैं । ऋग्वेद ने तो स्त्री को यज्ञ की ब्रह्मा बनने का अधिकार भी दिया है ।2

गोभिल–गृह्यसूत्र में स्त्री का यज्ञाधिकार—

गोभिल गृह्यसूत्र में प्रातः सायंकालीन यज्ञ की विधि का निर्देश करके कहा है कि इसके बाद अर्थात् प्रथम बार यज्ञ करने के पश्चात् आजीवन या अवमृथ स्नान तक प्रतिदिन प्रातः सायं यज्ञ करे अथवा करवाये,3 यहां यज्ञ की प्रतिनिधि बनकर यज्ञ कौन करे, यह बतलाते हुए कहा है कि—चाहे दोनों समय गृह्याग्नि में पत्नी ही यज्ञ करे, क्योंकि पत्नी को गृहा कहते हैं तथा यह अग्नि भी गृह्याग्नि है । अतः गृहा (पत्नी) ही गृह्याग्नि में होम करे।4

संस्कार–विधि में स्त्री के यज्ञ करने का विधान—

महर्षि दयानन्द—संस्कारविधि के गृहाश्रमप्रकरण में स्त्री पुरुष दोनों को समान रूप से यज्ञ का अधिकारी मानते हुए लिखते हैं—"जैसे सायं प्रातः दोनों सन्धि वेलाओं में सन्ध्योपासन करें, इसी प्रकार दोनों स्त्री पुरुष अग्निहोत्र भी दोनों समय में नित्य किया करें", इस पर टिप्पणी देते हुए महर्षि लिखते हैं—"किसी विशेष कारण से स्त्री वा पुरुष अग्निहोत्र के समय दोनों साथ उपस्थित न हो सकें तो एक ही स्त्री या पुरुष दोनों की ओर का कृत्य कर लेवें अर्थात् एक-एक मन्त्र को दो-दो बार के दो-दो आहुति करें ।5

यहां महर्षि दयानन्द गृहस्थ–स्त्री–पुरुषों को नित्य उभयकाल यज्ञ का विधान करते हैं तथा यदि दोनों में से एक न हो तो जहां पुरुष को स्त्री द्वारा दी जाने वाली आहुति देने का विधान

१–हे स्त्रियो यथा सूनृतानां चोदयित्री सुमतीनां चेतन्ती सरस्वती सत्यहं यज्ञं दधे तथायं युष्माभि–रप्यनुष्ठेयः ॥ यजु २०.८५ अन्वय ।

२–स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ ॥ ऋ ८.३३.१९

३–एवमत ऊर्ध्वं गृह्येऽग्नौ जुहुयाद्वा द्वावथेद्वा ऽऽ जीवितावमृथात् ॥ गो गृ० सू० १.३.१३

४–कामं गृह्येऽग्नौ पत्नी जुहुयात् सायं प्रातहोमौ, गृहाः पत्नी गृह्य एषोऽग्निर्भवतीति ॥ वही १.३.१५ ।

५–द्र० सं० वि० गृ० प्र० पृ० २६६ (अथाग्निहोत्रम्)

किया है,वहां यदि पुरुष उपस्थित न हो तो अकेली स्त्री ही को अपनी तथा अपने पति द्वारा दी जाने वाली आहुतियां देने का स्पष्ट निर्देश करते हैं।

स्त्री-यज्ञ और रामायण—

रामायण हमारी सांस्कृतिक धरोहर का समुज्ज्वल इतिहास है, उसमें परस्पर व्यवहार का जैसा सुन्दर चित्रण मिलता है वह उसकी अपनी ही विशिष्टता है। रामायण के अध्ययन से भी यह सिद्ध होता है कि स्त्रियों को यज्ञ करने का अधिकार था तथा वे यज्ञ किया करती थीं। अयोध्याकाण्ड के बीसवें अध्याय में जब राम वनवास की आज्ञा लेने माता कौशल्या के पास गए तब वह यज्ञ कर रही थीं, इसका चित्रण करते हुए वाल्मीकि लिखते हैं—

वह (कौशल्या) रेशमी वस्त्र पहन कर बड़ी प्रसन्नता के साथ निरन्तर व्रत परायण होकर मङ्गलकृत्य पूर्ण करने के पश्चात् मन्त्रोच्चारण पूर्वक उस समय अग्नि में आहुति दे रही थी[1]।

उसी समय श्री राम ने माता के शुभ अन्तःपुर में प्रवेश करके वहां माता को देखा, वे अग्नि में हवन कर रही थीं[2]।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वेद स्त्रियों को यज्ञ करने का विधान करते हैं। वेद का तो स्पष्ट सन्देश है कि—"पञ्चजना मम होत्रं जुषध्वम्" अर्थात् मानव मात्र मेरे यज्ञ को करे, निघण्टु में पञ्चजना मानव मात्र के नाम के लिये प्रयुक्त हुआ है, जिसका अर्थ है मानव मात्र,[3] चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, उसे यज्ञ करने का पूर्ण अधिकार है। इससे स्पष्ट है कि स्त्रियों को भी यज्ञ का पुरुषों की भांति ही अधिकार है।

□

१—सा क्षौमवसना हृष्टा नित्यंव्रतपरायणा।
अग्निं जुहोति स्म तदा मन्त्रवत् कृतमङ्गला॥ वा० रा० अयो० सर्ग २०, श्लोक १५

२—प्रविश्यतु तदा रामो मातुरन्तःपुरं शुभम्।
ददर्श मातरं तत्र हावयन्तीं हुताशनम्॥ वही १६, सम्वत् २०३३, पृ० २४४

३—निरुक्त ३।८।१

प्राचीन भारत में वर्ण व्यवस्था

—भारत भूषण शर्मा
एम० ए० द्वितीय वर्ष
प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्त्व

मैकाइवर तथा कूले आदि पाश्चात्य समाज शास्त्रियों ने अपने विस्तृत अध्ययन के आधार पर बतलाया है कि सामाजिक वर्ग विश्व के सभी समाजों में किसी न किसी रूप में अवश्य पाये जाते हैं। कहीं पर सामाजिक वर्गों के निर्माण का आधार जन्म होता है, तो कही पर धन, इतना निश्चित है कि सामाजिक वर्ग प्रत्येक समाज में पाये अवश्य जाते हैं। मनुष्य की प्रवृत्तियों एवं व्यवसायों के आधार पर उन्हें विभिन्न वर्गों में बांटने के प्रयत्न आदि काल से ही होते रहे हैं। इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध समाज शास्त्री एच. जी. वेल्स का कथन है कि मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों के आधार पर समाज विभाजन से समाज का श्रेष्ठ विकास होता है तथा उसकी शक्ति बढ़ती है। किंग्सले डेविस तथा मूरे ने सामाजिक वर्गों का विश्लेषण करते हुये यह बतलाया है कि समाज अपनी स्थिरता एवं उन्नति के लिये अपने व्यक्तियों को उनकी योग्यता एवं प्रशिक्षण को ध्यान में रखते हुए विभिन्न वर्गों में बांट देता है।

प्राचीन भारतीय विचारकों ने भी मनुष्य की मनोवैज्ञानिक प्रवत्तियों को ध्यान में रखते हुए सामाजिक स्तरीकरण की एक सुनियोजित नीति अपनायी तथा कार्यात्मक दृष्टि से समाज को चार वर्णों में विभाजित किया। ये वर्ण क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र हैं, इसी को वर्ण व्यवस्था का नाम दिया गया है।

वर्ण व्यवस्था हिन्दू सामाजिक संगठन के मौलिक तत्त्व के रूप में पायी जाती है। मनुष्य की चार स्वाभाविक इच्छाएं होती हैं यथा ज्ञान, रक्षा, जीविका तथा सेवा। सम्भवतः इन्हीं इच्छाओं की पूर्ति हेतु प्राचीन हिन्दू विचारकों ने समाज को चार वर्णों में विभाजित किया जिससे प्रत्येक वर्ण अपने कार्य को पूर्ण करता हुआ समाज की उन्नति एवं विकास में योग देता रहे।

वर्ण शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत भाषा के 'वृ वरणे' धातु से हुई जिसका अर्थ है वरण करना अथवा चुनना। इस प्रकार मनुष्य अपने कार्य एवं स्वभाव के आधार पर जिस व्यवसाय का चुनाव करता है उसे वर्ण कहा जा सकता है।

ऋग्वेद में सर्वप्रथम वर्ण शब्द का प्रयोग गोरे (आर्य) तथा काले (अनार्य) रंग के मनुष्यों के लिये किया गया है। डा० घूरिये का कथन है कि आर्यों ने भारत के मूल निवासियों को पराजित कर उन्हें अपना दास बना लिया तथा अपने एवं उनके बीच के अन्तर को स्पष्ट करने के लिये ही (आर्य)

गौर वर्ण तथा अनार्य कृष्ण वर्ण शब्द का प्रयोग किया। श्री पान्डूरंग वामन काणे की यह मान्यता है कि प्रारम्भ में गौर वर्ण का प्रयोग आर्यों के लिये तथा कृष्ण वर्ण का प्रयोग दास दस्युओं के लिये किया गया। समय के साथ-साथ जैसे-जैसे आर्यों की संख्या में वृद्धि होती गयी उनके कार्यों में भी भिन्नता आती गयी और गौर वर्ण अर्थात् अपने-अपने गुणों के आधार पर तीन वर्णों में विभक्त हो गये यथा ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य, चूंकि ये तीनों वर्ण एक ही मूल से सम्बन्धित थे अतः प्रारम्भ में इनमें परस्पर वैवाहिक सम्बन्ध खान–पान एवं सामाजिक सम्पर्क का उल्लेख वेदों में भी मिलता है। द्रविड़ जो कि यहां के मूल निवासी थे उन्हें शूद्र वर्ण का कहा गया। इस प्रकार जिन व्यक्तियों के गुण एवं कर्म एक से थे, वे एक वर्ण के माने जाते थे।

ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में वर्ण व्यवस्था को उत्पत्ति के सम्बन्ध में निम्न रूपेण उल्लेख है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहु राजन्यः कृतः।
उरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत ॥ ऋ० १०.९०.१२ ॥

इस श्लोक में विराट् पुरुष की कल्पना तथा उसके शरीर के विभिन्न अंगों से चारों वर्ण के मनुष्यों की उत्पत्ति से स्पष्ट होता है कि वर्ण व्यवस्था सिद्धान्त रूप में अति प्राचीन है, तथा चारों वर्णों में भिन्न-भिन्न स्वभाव गत विशेषताएं हैं लेकिन एक ही समाज रूपी शरीर के अलग-अलग होने के कारण उनमें परस्पर अन्तर निर्भरता भी दिखलायी पड़तो है।

गीता में श्री कृष्ण जी ने कहा है :—

"चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण कर्म–विभागतः" अर्थात् गुण एवं कर्मों के आधार पर चारों वर्णों का विभाजन मैंने किया है।

महाभारत में ही एक अन्य स्थल पर वर्ण व्यवस्था के सम्बन्ध में निम्न श्लोक मिलता है—

"एक वर्णमिदं पूर्वं विश्वमासीद् युधिष्ठिर।
कर्म–क्रिया विभेदेन चातुर्वर्ण्यं प्रतिष्ठितम् ॥
न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्रह्ममिदं जगत्।
ब्राह्मणः पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम् ॥"

अर्थात् श्री कृष्ण युधिष्ठिर को बताते है कि—हे युधिष्ठिर इस जगत् में पहले एक ही ब्राह्मण वर्ण था, गुण कर्म के आधार पर बाद में चार वर्ण बने, वर्णों में कोई भी वर्ण किसी प्रकार की विशिष्टता नहीं रखता क्योंकि यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्ममय है। पहले सबको ब्रह्मा ने ही उत्पन्न किया बाद में कर्मों के भेद से वर्णों की उत्पत्ति हुई।

प्रारम्भिक काल में वर्ण व्यवस्था का आधार क्या था इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध विचारक डॉ० राधाकृष्णन् का कथन है कि इस व्यवस्था में वंशानुक्रमणीय क्षमताओं का महत्त्व अवश्य था, परन्तु फिर भी मुख्यतया यह व्यवस्था गुण तथा कर्मों पर आधारित थी। अपने कथन की पुष्टि में उन्होंने महाभारत एवं इससे पूर्वकाल के अनेक ऐसे उद्धरण प्रस्तुत किये जिनसे इस तथ्य को बल मिलता है कि उस काल में वर्ण परिवर्तन सम्भव था। विश्वामित्र, राजा जनक, महामुनि व्यास वाल्मीकि अजामिल आदि अपने गुण तथा कर्मों के आधार पर अपना वर्ण परिवर्तित कर पाये थे। भागवत में भी धष्ट्र नामक एक क्षत्रिय जाति का उल्लेख मिलता है जो कि अपने कर्मों के आधार पर ब्राह्मण बन गयी थी। के० एम० पाणिक्कर ने भी वर्ण व्यवस्था का आधार गुण कर्म को ही स्वीकार किया है।

स्मृति के अनुसार जन्म के समय व्यक्ति को शूद्र मानना तथा उपनयन व अन्य अनेक संस्कारों द्वारा शूद्र होने पर उसे द्विज—ब्राह्मण क्षत्रिय या वैश्य के रूप में प्रतिष्ठा प्रदान करना भी यही स्पष्ट करता है कि वर्ण सदस्यता के निर्धारण में कर्म का महत्त्व प्रमुख था। यदि वर्ण का आधार जन्म होता तो यह सब सम्भव नहीं हो सकता था। इसी प्रकार डॉ० जी० एस० घूरिये ने भी गुण एवं कर्म को ही वर्ण निर्धारण का आधार कहा है।

इस प्रकार विदित होता है कि महाभारत काल तक वर्ण निर्धारण का आधार गुण एवं कर्म को माना गया, धीरे-धीरे स्मृतिकारों का झुकाव इस व्यवस्था को कठोर बनाने की ओर होता गया तथा उन्होंने ऋग्वेद के पुरुष - सूक्त की व्याख्या अपने ही तरीके से करना प्रारम्भ कर दिया एवं वर्ण व्यवस्था को एक ईश्वरीय व्याख्या के रूप में प्रतिष्ठापित कर दिया, फलस्वरूप गुण एवं कर्म पर आधारित उदार वर्ण व्यवस्था में कठोरता आती गयी एवं व्यक्ति के लिये वर्ण परिवर्तन सामान्यतः सम्भव नहीं रह गया।

विभिन्न धर्मग्रन्थों में दिये गये अलग-अलग वर्णों के कर्त्तव्यों या उनके वर्ण धर्मों पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्ण व्यवस्था श्रम विभाजन की एक ऐसी सुनियोजित व्यवस्था है जिसके द्वारा सभो प्रकार के कार्यों को विशेष ज्ञान के आधार पर पूरा करने का प्रयत्न किया जाता है। मनुस्मृति में चारों वर्णों के धर्मों का उल्लेख अलग-अलग दिया गया है ।

(i) **ब्राह्मणों का धर्म**—वेदाभ्यासो हि-विप्रस्य तपः परिमिहोच्यते।
अध्यापनमध्ययन - यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणाय कल्पयत् ॥

(ii) **क्षत्रियों का धर्म**—प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।
विषयेष्व प्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ॥

(iii) **वैश्यों का धर्म**—पशूनां रक्षणां दानमिज्याध्ययनमेव च ।
वणिको कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ।।

(iv) **शूद्रों का धर्म**—एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुकर्मसमादिशत् ।।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रुषामनसूयया ।।

वर्ण धर्म का पालन करने वाले व्यक्तियों को यह भी विश्वास दिलाया गया कि जो व्यक्ति अपने-अपने वर्ण धर्म का पालन करेंगे, उन्हें अगले जन्म में उच्च सामाजिक स्थिति प्राप्त होगी। इसी वर्ण व्यवस्था ने समाज को विभिन्न खण्डों में बांटने के स्थान पर संगठित बनायें रखने का प्रयास किया। इस व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्ति को अपने गुण कर्म के आधार पर वर्ण परिवर्तन का सुअवसर भो दिया गया ।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि हमारी वर्ण व्यवस्था समता की नीति पर आधारित थी। इसमें समाज का चार वर्णों के रूप में कार्यात्मक-विभाजन अवश्य रहा, लेकिन प्रत्येक वर्ण की सेवाओं को सामाजिक दृष्टि से समान महत्त्व दिया गया, इसी व्यवस्था का पालन कर विभिन्न प्रजातीय समूह रक्त की शुद्धता को बनाये रख सके, साथ ही अपनी सांस्कृतिक विशेषता को पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरित करते रहे। वर्ण व्यवस्था का इस दृष्टि से भी महत्त्व है कि इसने समाज में शक्ति सन्तुलन को बनाये रखने में योग दिया।

प्रारम्भ में वर्ण व्यवस्था के गुणों का लाभ समाज को मिलता रहा लेकिन जब प्रत्येक वर्ण सैकडों हजारों जातियों एवं उपजातियों में विभक्त हो गया तो कालान्तर में समाज को अनेक हानियां भी उठानी पडीं, सम्पूर्ण हिन्दू समाज अगणित जातियों में बँट गया। लोगों की सामुदायिकता की भावना अत्यन्त संकुचित हो गयी जिससे राष्ट्रीय एकता के मार्ग में बाधाएं उपस्थित हो गयीं फलस्वरूप विदेशी आक्रमणकारियों ने इसका भरपूर लाभ लेकर यहां सैकड़ों वर्षों तक शासन किया। इसी वर्ण व्यवस्था ने आगे चलकर अस्पृश्यता को भी जन्म दिया, इससे समाज के एक बहुत बड़े वर्ण शूद्रों को विकास के समुचित अवसर प्राप्त नहीं हो सके और उन्हें अन्य वर्णों की सेवा करके ही अपनी जीविका चलानी पड़ी, लेकिन यहां पर यह बताना अति आवश्यक है कि प्रारम्भिक वर्ण व्यवस्था में कोई दोष नहीं था बल्कि कालान्तर में विकसित जाति व्यवस्था ही इस हेतु उत्तरदायी है।

वर्ण व्यवस्था ने वास्तव में समाज को अनेक संघर्षों से बचाया है तथा विभिन्न वर्णों को धर्मानुसार अपने-अपने कर्त्तव्यों का पालन करने हेतु प्रेरित किया। लेकिन आज वर्ण व्यवस्था एक सैद्धान्तिक व्यवस्था बन गई है और अब इसका स्थान जाति व्यवस्था ने ले लिया है । आज हमें उसी प्राचीन वर्ण व्यवस्था को प्रतिष्ठापित करने की आवश्यकता है जिसके अन्तर्गत मनुष्य अपने गुण कर्म के आधार पर अपने व्यवसाय को चुन सके । साथ ही समाज में सबको उन्नति के अवसर प्राप्त हों। □

निपात

—डा० राकेश शास्त्री
संस्कृत-विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

चार प्रकार के पद विभाग के अन्तिम भाग निपात पर विचार करने से पूर्व विचारणीय प्रश्न यह है कि 'पद' शब्द से क्या तात्पर्य है। प्राचीन आचार्यों ने इस विषय पर अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। 'पद' शब्द के विषय में सर्व प्रथम ऐन्द्र व्याकरण में उल्लेख मिलता है। यद्यपि आज ऐन्द्र व्याकरण उपलब्ध नहीं होता ?[1] तथापि ऐन्द्र व्याकरण के मत का विभिन्न ग्रन्थों में उल्लेख मिलता है।[2] उसके अनुसार अर्थ बोधक अक्षर समुदाय को पद कहा जाता है।

यह बिस्मय का विषय है कि आचार्य यास्क ने पद विभाग तो किया किन्तु पद की परिभाषा नहीं की। वाजसनेयी प्रातिशाख्य भाष्य में उव्वट ने 'अर्थवान्' को ही पद की संज्ञा दी है।[4] पाणिनि ने सुबन्त और तिङन्त प्रत्यय युक्त शब्दों को ही पद की संज्ञा दी है।[5] उन्होंने निपातों को भी पद स्वीकार किया है, अतः उनके आगे विभक्तियों का लोप करके उनका समावेश अव्यय-संज्ञा में किया है।[6]

वाजसनेयी प्रातिशाख्य में अक्षर समुदाय को पद कहा गया है।[7] कौटिल्य ने भी अर्थशास्त्र में पद की परिभाषा की है।[8] वे भी वाजसनेयी प्रातिशाख्यकार के मत से सहमत हैं। न्याय सूत्र में विभक्ति युक्त अक्षर समूह को पद स्वीकार किया गया है।[9]

वस्तुतः 'अर्थवान् वर्ण-समूह' को ही पद संज्ञा देना उचित प्रतीत होता है, क्योंकि यदि अर्थ रहित अथवा अनर्थक को भी पद कहा जायेगा तो लक्षण में अति व्याप्ति दोष आ जायेगा एवं सभी निरर्थक अक्षर समूह पद संज्ञायुक्त होंगे। अधिकांश प्राचीन आचार्य पद की इसी परिभाषा से सहमत हैं।

पुनः विचारणीय है कि पद का कितनी श्रेणियों में विभाजन किया जाय, प्राचीन आचार्यों ने पद विभाजन का प्रयास किया है। आचार्य यास्क ने पदों का चार श्रेणियों में विभाजन किया है नाम, आख्यात, उपसर्ग एवं निपात[10] आचार्य दुर्ग भी यास्ककृत पद-विभाजन से सहमत प्रतीत होते हैं,क्योंकि उन्होंने अन्य मतों का स्पष्ट रूप से खण्डन किया है।[11] दुर्ग के कथन से प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में विद्वानों में पद-विभाजन के प्रश्न पर ऐकमत्य नहीं था, इस कथ्य की पुष्टि सर्वदर्शन संग्रह के कथन से भी होती है, उसमें भी विभिन्न आचार्यों के पद विभाजन के प्रश्न पर मतभेद का उल्लेख मिलता है।[12]

अधिकांश प्राचीन ग्रन्थों में आचार्यों को पद का चतुर्धा विभाजन ही स्वीकार्य है, क्योंकि ऋक्-प्रातिशाख्य,13 वाजसनेयी प्रातिशाख्य 14 एवं महाभाष्य15 आदि में पदों के चतुर्धा विभाजन को मान्यता प्रदान की गयी है। इसके अतिरिक्त वाजसनेयी प्रातिशाख्य के प्रसिद्ध भाष्यकार आचार्य उव्वट को भी पदों का चतुर्धा विभाजन ही स्वीकार है।16 यद्यपि निरुक्तकार को स्वयं भी पदों का चार श्रेणी में विभाजन स्वीकार है तथापि उन्होंने अन्य वैयाकरणों के मतों का भी इस सम्बन्ध में उल्लेख किया है।17 आचार्य कौटिल्य भी पदों के चतुर्धा विभाजन से सहमत हैं।18 महिमभट्ट पदों का पांच वर्गों में विभाजन करते हैं।19 पदों के चतुर्धा विभाजन को ऋग्वेद में भी सहज ही ढूंढा जा सकता है।20 अतः पदों का नाम, आख्यात, उपसर्ग एवं निपात चतुर्धा विभाजन ही उचित प्रतीत होता है।

पूर्व प्रतिपादित पदों के चतुर्धा विभाजन में निपातों की गणना सभी प्राचीन ग्रन्थों में की गई है। अतः निपात को एक पद विभाग के रूप में प्राचीन आचार्यों की दृष्टि में मान्यता प्राप्त है। जो आचार्य पदों को केवल दो या तीन भागों में विभक्त करते हैं, उनके मत में निपात की स्वतन्त्र रूप से स्थिति संदिग्ध है। जैसे—ऐन्द्र व्याकरण के अनुसार—केवल अर्थवान् अक्षर समूह ही पद होने से पदों का एक से अधिक श्रेणियों में विभाजन उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि विभाजन का अन्य कोई आधार उपलब्ध नहीं है, जिसके आधार पर पद का विभाजन सम्भव हो। किन्तु ऐन्द्र व्याकरण के अनुयायियों के मत में निपात को अर्थ-बोधक कहा गया है क्योंकि ऐन्द्र व्याकरण के लक्षण को ही वाजसनेयी प्रातिशाख्य में स्वीकार किया गया है। जिसका भाष्य करते हुए आचार्य उव्वट से निपात की चर्चा की है।21

यदि वाजसनेयी प्रातिशाख्य के 'अर्थः पदम्' सूत्र पर आचार्य उव्वट द्वारा की गई व्याख्या के परिप्रेक्ष्य में ऐन्द्र व्याकरण के सूत्र की व्याख्या करे तो स्पष्ट हो जाता है कि इस सूत्र का सम्बन्ध पदों के वर्गीकरण से नहीं हैं। आचार्य कात्यायन को भी स्वयं अर्थभेद के आधार पर पद-चतुष्ट्य विभाजन स्वीकार्य है। वस्तुतः उक्त सूत्र से कात्यायन का मुख्य आशय पद के अवयव की पद संज्ञा न हो, यही रहा है। अतः कात्यायन के उक्त मत के आधार पर यह भी प्रतिपादित किया जा सकता है, कि सम्भवतः इन्द्र को भी अर्थभेद के आधार पर पदों का चतुर्धा विभाजन मान्य था। अतः ऐन्द्र-व्याकरण निपात को अर्थ बोधक मानकर पद स्वीकार करता है। इस प्रकार ऐन्द्र व्याकरण के मत में भी निपात की पद वर्ग के रूप में मान्यता की पुष्टि होती है।

पुनः प्रश्न उठता है कि जो विद्वान् विभक्ति से युक्त शब्द को ही पद स्वीकार करते हैं।22 उनके मत में निपात को स्वतन्त्र पद वर्ग के रूप में स्वीकार किया जा सकता है ? क्योंकि निपात प्रायः विभक्ति युक्त नहीं होते। पाणिनि के मत में नाम एवं आख्यात के आगे प्रयुक्त होने वाले 'सुप्'

एवं 'तिङ्' प्रत्ययों के समुदाय को विभक्ति की संज्ञा दी गई है।[23] अतः ऐसा प्रतीत होता है कि पाणिनि को निपात का पृथक् पद-वर्ग होना स्वीकार्य नहीं है। किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है, क्योंकि पाणिनि ने पद की परिभाषा देने के उपरान्त निपातों की भी अव्यय-संज्ञा करके उन्हें पद वर्ग के रूप में स्वीकार किया है[२४] और उनकी विभक्तियों के लोपार्थ सूत्र की रचना की है।[25]

न्यायसूत्र के वात्स्यायन भाष्य में भी निपातों की विभक्यिों का लोप कर उसकी पद संज्ञा स्वीकार की गई है।[26] इसके अतिरिक्त गोपथ ब्राह्मण में भी व्याकरण सम्बन्धी कुछ संज्ञाओं के वर्णन में निपात का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है।[27]

अतः पदों के दो वर्गों को मान्यता प्रदान करें अथवा एक ही वर्ग को स्वीकार किया जाय, दोनों स्थितियों में निपात का स्थान स्वतन्त्र पद वर्ग के रूप में निर्विवाद है। पदों का विभाजन जो आचार्य तीन या चार श्रेणियों में करते हैं उनके मत में तो निपात स्वतन्त्र पद-वर्ग के रूप में स्वीकार्य है। अतः पदों के चार वर्गों में विभाजन के औचित्य के साथ-साथ निपात की स्वतन्त्र पद वर्ग के रूप में भी पुष्टि हो जाती है।

निपात की स्वतन्त्र पद विभाग के रूप में स्थिति स्पष्ट करने के उपरान्त विचारणीय है कि निपात पद का क्या अर्थ है अथवा इसे निपात की संज्ञा क्यों दी गयो है? इस विषय में भी प्राचीन ग्रन्थों में उल्लेख प्राप्त होते हैं।

पदचतुष्टय का लक्षण[28] करते हुए आचार्य यास्क ने निपात की परिभाषा की है। उन्होंने विविध अर्थों में प्रयुक्त या निपतित होने के कारण इन्हें निपात कहा है "**अथ निपाता उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति।**" निरुक्त के टीकाकार आचार्य दुर्ग ने भी निरुक्त के प्रस्तुत स्थल की व्याख्या करते हुए यास्क के मत की ही पुष्टि की है।[29]

ऋक् प्रातिशाख्यकार ने भी निपात का नामकरण करते हुए उसके विविध अर्थों में प्रयोग को ही प्रमुख आधार माना है।[30] माधवभट्ट ऋग्वेदानुक्रमणी में निपात का अर्थ करते हुए उनके विविध अर्थों में प्रयुक्त अथवा पतित होने को ही हेतु स्वीकार करते हैं।[31] बृहद् देवताकार की सम्मति में—प्रकरण के आधार पर विविध अर्थों में प्रयुक्त होने के कारण इन्हें निपात कहा जाता है।[32]

अतः स्पष्ट है कि निपातों के विविध अर्थों में प्रयोग को दृष्टि में रखकर ही इन्हें निपात संज्ञा दी गयी है। ऋग्वेद में निपातों का अध्ययन करने पर भी इस तथ्य की पुष्टि हो जाती है, किन्तु इसके अतिरिक्त भी निपात की कुछ परिभाषायें की गयी हैं। कुछ विद्वान् निपातों को मूल में विभक्ति-युक्त मानते हैं, पुनः कालक्रम के प्रभाव से उनकी विभक्तियों का पतन हो गया। अतः वे शब्द जिनसे

विभक्तियां पतित हो गयीं, निपात कहे जाते हैं।33 ऋग्वेद में अधिकांश रूप से निपात विभक्ति रहित प्रयुक्त हुए हैं। अतः यह परिभाषा भी समीचीन प्रतीत होती है।

आचार्य सायण निपात की 'निपात' संज्ञा में निपात के मंत्रों में बहुल प्रयोग को स्वीकार करते हैं अर्थात् ऐसे शब्द जिनका वेदों में अत्यधिक प्रयोग हुआ है, निपात कहे जा सकते हैं।34 ऋग्वेद के अध्ययन से इस तथ्य की पुष्टि होती है क्योंकि एक-एक मन्त्र में छः, सात और आठ तक निपातों का प्रयोग मिलता है। 35 अतः निपात पद की यह परिभाषा भी ठीक प्रतीत होती है।

यह अत्यन्त विस्मय का विषय है कि वैदिक साहित्य में निपातों की विचित्र अर्थाभिव्यक्ति होते हुए भी कुछ प्रातिशाख्य ग्रन्थों में निपातों का पादपूरण लक्षण किया गया है।36 किन्तु उक्त लक्षण संगत प्रतीत नहीं होता क्योंकि आचार्य यास्क ने निपातों की तीन श्रेणियों का उल्लेख करते हुए37 पाद पूरणार्थक श्रेणी में जिन निपातों को रक्खा है38 उन का भी ऋग्वेद में विविध अर्थों में प्रयोग हुआ है।39 अत: निपातों का ही 'निपातः पादपूरणः' लक्षण करना समीचीन प्रतीत नहीं होता।

माधवभट्ट ने ऋग्वेदानुक्रमणी में २० निपातों को अनर्थक माना है।40 किन्तु विवेचन करने पर हम देखते हैं कि इनमें प्राय: सभी निपात वैदिक साहित्य में विविध अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं। माधव-भट्ट ने किस आधार पर इन निपातों को अनर्थक प्रतिपादित किया है ? यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

निपातों को अनर्थक कहने का कारण सम्भवतः यह प्रतीत होता है कि कतिपय स्थलों पर निपात वेदों में किसी विशिष्ट एवं निश्चित अर्थ को प्रकट करने के लिये प्रयुक्त नहीं होते। किन्तु यदि उन स्थलों का सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन किया जाये तो वे ही निपात पूर्णतया सार्थक प्रतीत होते हैं। इस बात की पुष्टि माधवभट्ट के कथन से भी होती है क्योंकि वे स्फुट अर्थ वाले निपातों को सार्थक एवं सूक्ष्म अर्थ होने पर पूरण मानते हैं।41

ऐसी स्थिति में जबकि मन्त्रों के पदों का व्यतिक्रम भी स्वीकार न किया जा सके, एक ही मन्त्र में प्रयुक्त चार अथवा पांच निपात अनर्थक अथवा 'पदपूरण' हों और निपातों का यह लक्षण किया जाए। यह बात युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होती।

अन्त में संक्षेप में कहा जा सकता है कि निपात भाषा का एक महत्त्वपूर्ण एवं सार्थक अंग है साथ ही वैदिक साहित्य में इनकी विविध अर्थाभिव्यक्ति के कारण इसका निपात नाम पड़ा। □

---

१ संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, युधिष्ठिर मीमांसक, पृ० ६०

२ निरुक्त के व्याख्याकार आचार्य दुर्ग एवं कलाप चन्द्र ने उनके मत का उल्लेख किया है।

३ अर्थः पदमेन्द्राणामिति –निरुक्त दुर्गवृत्ति १।१।८

अर्थः पदमाहुरेन्द्राः – सुषेण विद्याभूषण, कलाप चन्द्र; संधि २०

४ अर्थाभिधायि पदम् पद्यते गम्यते ज्ञायतेऽर्थोऽनेनेति पदम् ३।२।

५ सुप्तिङन्त पदम् १।४।१४

६ स्वरादिनिपातमव्ययम् १।१।३७। अव्ययादाप्सुपः २।४।८२

७ अक्षरसमुदायः पदम् ८।४६।४९ ।

८ वर्ण संघातः पदम्–२।१०।२८

९ ते विभक्त्यन्ताः पदम् २।२।५७

विभक्त्यन्तं पदमाहुरापिशलीयाः–सुषेण विद्याभूषण, कलापचन्द्र, संधि–२०

१० चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च–निरुक्त १।१।८

११ नैक पद जातम्, यथार्थः पदमेन्द्राणामिति । नापि द्वे यथा सुबन्तं तिङन्तं च । नापि त्रीणि निपातोपसर्गौ वैकतः कृत्वा । नापि पञ्च षड् वा यथा गतिकर्मप्रवचनीयभेदेनेति । निरुक्त दुर्ग टीका १।१।८।

१२ द्विधा कैश्चित् पदं भिन्नं चतुर्धा पञ्चधापि वा । सर्वदर्शन संग्रह–पृ० १४०

१३ नामाख्यातमुपसर्गो निपातः, चत्वार्याहुः पदजातानि । ऋक् प्रातिशाख्य १२।१७

१४ अक्षरसमुदायः पदं तच्चतुर्धा, नामाख्यातोपसर्गनिपाताः । वाजसनेयी प्रातिशाख्य

१५ चत्वारि पद जातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च । महाभाष्य १।१।१

१६ उपरिष्टादर्थभेदनिबन्धनं पदचतुष्ट्यं वक्ष्यति नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्चेति

वाजसनेयी प्रातिशाख्य-उ० भा० ३।२

१७ कतमानि तानि चत्वारि पदानि । नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्चेति वैयाकरणाः । निरुक्त १३।९

१८ वर्णसंघात पदम् तच्चतुर्विधम् । नामाख्यातोपसर्गनिपातश्चेति । कौ० अर्थ० २।१०।२८

१९ तत्र पदमनेकप्रकारनामाख्यातोपसर्गनिपातकर्म प्रवचनोयभेदात् । व्यक्ति विवेक-महिमभट्ट-पृ०२७

२० चत्वारि वाक् परिमिता पदानि-ऋ० १।१६४।४५

चत्वारि शृंगा त्रयोऽस्य पादाः–वही ४।५८।३

२१ वाजसनेयी प्रातिशाख्य उव्वट भाष्य-३।२

२२ न्यायसूत्र-२।२।५७, आपिशलीय व्याकरण-सुषेण विद्याभूषण-संधि २०

२३ विभक्तिश्च-अष्टाध्यायी - १।४।१०४

२४ स्वरादिनिपातमव्ययम्-१।१।३७

२५ अव्ययादाप्सुपः २।४।८२

२६ न्यायसूत्र—वात्स्यायन-भाष्य २।२।५७

२७ गोपथ ब्राह्मण-१।२७

२८ निरुक्त १।१

२९ उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्तीति निपाताः। निरुक्त दुर्गटीका १।४

३० निपातानामार्थवशान्निपातनात्, ऋक् प्राति०-१२।१५

३१ उच्चावचेषु निपततामर्थेष्वेषु यथायथम्-ऋग्वेदानुक्रमणी ३।१।२७

३२ उच्चावचेषु चार्थेषु निपाताः समुदाहृताः।
वशात् प्रकरणस्यैते निपात्यन्ते पदे-पदे ॥वृहद्देवता-२।१९३

३३ निपातार्थ-निर्णयः डा० हरिश्चन्द्रमणि त्रिपाठी

३४ नितरां पातः इति निपातः-ऋग्वेद सायण भाष्य ४।५५।३

३५ ऋग्वेद-१।११४।८, १०, १८०।७,

३६ निपातः पादपूरणः। ऋक् प्राप्ति० १२।८।७०७
निपातस्तु अर्थविशेषाभावात् पादपूरणः। वा० प्रा० अनन्त भाष्य ८।५०

३७ अप्युपमार्थेऽपि कर्मोपसंग्रहार्थेऽपि पदपूरणाः निरुक्त १।४।३

३८ अथ ये प्रवृत्तेऽर्थेक्षऽमितारेषु ग्रन्थेषु वाक्यपूरणा आगच्छन्ति,
पदपूरणास्ते मिताक्षरेष्वनर्थकाः कमीमिद्विति-निरुक्त १।९।३

३९ ऋग्वेद के निपात (निश्चयार्थक): एक अध्ययन-लेखककृत शोधप्रबन्ध, पृ० ८२

४० न वै किल नु नामाथखल्विदादघसीमुकम्।
उत नूनमिविङ्घस्मचिद्धचाः स्युरनर्थकाः। ऋग्वेदानुक्रमणी-३।१।१४

४१ स्फुटत्वोद्ग्रहणादिश्च क्वचित् सूक्ष्मः क्वचित् स्फुटः।
यत्र स्फुटस्तदा सार्थाः सूक्ष्मे स्युः पूरणा इति ॥ वही ३।१।१८

मनुष्य का आत्मा सत्यासत्य का जानने वाला है तथापि अपने प्रयोजन की सिद्धि हठ, दुराग्रह और अविद्यादि दोषों से सत्य को छोड़ असत्य में झुक जाता है।

(सत्यार्थ प्रकाश—भूमिका)

उपनिधि

—प्रो० वेदप्रकाश शास्त्री
संस्कृत विभाग
गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय

समग्र मानव जाति के सम्पूर्ण अभ्युदय एवं विकास को ध्यान में रखकर ही परमात्मा की कृपा से उसी के निःश्वास रूप वेदों का ज्ञान आदि काल में ऋषियों ने श्रुति के रूप में दिया। इन्हीं श्रुतियों के व्यापक ज्ञान को मानवीय व्यवस्था के रूप में स्मृतिकारों ने अपने-अपने स्मृति ग्रन्थों में उपनिबद्ध किया। मानव जीवन के सभी पक्षों को अभिलक्षित कर स्मृतियों में विशेष व्यवस्था प्रदान की गयी है। सम्पूर्ण मानव जीवन प्रसूतावस्था से लेकर मृत्यु-पर्यन्त सामयिक नित्य एवं नैमित्तिक नियमोपनियमों में आबद्ध है उसकी प्रत्येक चेष्टा सुनिश्चित है, सुपर्यालोचित है, अत एव शास्त्रीय मर्यादा से उसका औचित्य एवं अनौचित्य सम्बद्ध है। मनुष्य संसार में विविध प्रकार के व्यवहार करता है उन्हीं व्यवहारों में वस्तु का आदान प्रदान भी अपना विशेष स्थान रखता है। कभी-कभी मानव अपनी बहुमूल्य वस्तु को किसी अन्य व्यक्ति के पास कुछ समय के लिये सुरक्षा की दृष्टि से रख देता है तथा समय आने पर वह पुनः वस्तु को प्राप्त कर लेता है। स्मृति ग्रन्थों में इस प्रकार के वस्तु व्यवहार को ध्यान में रखते हुए एक विशेष व्यवस्था दी गयी है। उसी व्यवस्था के अन्तर्गत ऐसी वस्तु की जो कुछ समय के लिये धरोहर के रूप में किसी के समीप स्थापित की जाति हो स्मृतिकार ने उसको उपनिधि के नाम से व्यवहृत किया है। इससे यह ज्ञात होता है कि वस्तु को धरोहर के रूप में रखने की परम्परा मानव जीवन के साथ अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही है, इसीलिये स्मृति ग्रन्थों में उसको नियमित राज-व्यवस्था के साथ जोड़ दिया है। महर्षि याज्ञवल्क्य अपनी स्मृति में एक प्रकरण उपनिधि के नाम से लिखते हैं जिसमें उन्होंने उपनिधि का विशेष व्याख्यान समुचित एवं पूर्ण व्यवस्था के साथ किया है। सर्वप्रथम उपनिधि का लक्षण निम्न प्रकार किया गया है—

वासनस्थमनाख्याय हस्तेऽन्यस्य यदर्प्यते ।
द्रव्यं तदौपनिधिकं प्रतिदेयं तथैव तत् ।।या०स्मृ० ६५ ।।

अर्थात् जब कोई व्यक्ति द्रव्य को (स्वण रजातादि) किसी वस्त्रादि से आच्छादित करके अन्य व्यक्ति के हाथ में समर्पित करता है तथा उसको उसी प्रकार से यथा समय ग्रहण करने की इच्छा करता है तब उस द्रव्य को उपनिधि के नाम से कहा जाता है। यहां पर "प्रतिदेयं तथैव तत्" पदों का प्रयोग विशेष अभिप्राय के साथ किया गया है। इस आशय को याज्ञवल्क्य स्मृति की मिताक्षरा टीका में इस प्रकार देखा जा सकता है—

"यस्मिन्स्थापितं तेन यथैव पूर्वमुद्रादिचिन्हितम् ।
समर्पितं तथैव स्थापकाय प्रतिदेयं प्रत्यर्पणीयम् ॥

उपनिधि विषयक उक्त विचार को श्री नारद जी ने भी अपने स्मृति ग्रन्थ में व्यवस्थित करते हुए कुछ विशेषीकरण के साथ उपनिबद्ध किया है, नारदीय स्मृति में धरोहर के रूप में स्थापित द्रव्य को दो भागों में विभक्त किया है । प्रथम उपनिधि तथा द्वितीय निक्षेप। इन दोनों का परस्पर स्वरूप भेद दर्शाते हुए दो श्लोक हैं—

अन्य द्रव्य व्यवहितं द्रव्यमव्याकृतं च यत् ।
निक्षिप्यते परगृहे तदौपनिधिकं स्मृतम् ॥

असंख्यातमविज्ञातं समुद्रं यन्निधीयते ।
तं जानीयादुपनिधिं निक्षेपं गणितं विदुः ॥ ना० स्मृति ॥

उक्त दो श्लोकों को देखकर कहा जा सकता है कि उपनिधि और निक्षेप में अन्तर अवश्य है । अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि मनुष्य स्व द्रव्य को किस व्यक्ति के पास निक्षिप्त करे इसका समाधान हमें मनुस्मृति में प्राप्त होता है, क्योंकि निक्षिप्त वस्तु कितनी मूल्यवान् है इसका वेदन लिखित अथवा वाचिक रूप में कहीं भी नहीं होता है, अतः केवल विश्वास के आधार पर ही वस्तु को निक्षिप्त किया जाता है इसलिये निक्षेप धर्ता की पात्रता के विषय में जान लेना आवश्यक है, उसमें निम्न गुण अपेक्षित माने हैं—

कुलजे वृत्तसम्पन्ने धर्मज्ञे सत्यवादिनि ।
महापक्षे धनिन्यार्ये निक्षेपं निक्षिपेद् बुधः ॥

अर्थात् निक्षेप धर्त्ता को संभ्रान्त परिवार का होना चाहिये। उसमें चरित्र की सम्पन्नता हो सभी दृष्टियों से चारित्रिक शुद्धि का स्वरूप उसमें दीखता हो। वह केवल धर्म का आचरण ही न करता हो अपितु धर्म के वास्तविक तत्त्व का वेत्ता हो क्योंकि कृत्रिम रूप में भी कोई धार्मिक कृत्यों को करता हुआ धार्मिक कहा जाता है जब कि यथार्थ में वह उनका धर्म न होकर धर्माभास मात्र होता है। निक्षेप धर्ता को सत्यवादी अवश्य होना चाहिए क्योंकि "यथा दायस्तथा ग्रहः" की प्रवृत्ति को सत्यवादिता के आधार पर ही सुरक्षित किया जा सकता है। उसका पक्ष महान् होना चाहिए, पक्ष से अभिप्राय उसके आर्थिक, बौद्धिक, प्रतिष्ठात्मक, एवं पारिवारिक अभ्युदय से है। यदि कदाचित् वह असमय में ही काल कवलित हो जाये तो उसके पक्षधर यथावत् उपनिधि को उसके स्थापक को

प्रत्यर्पित कर सकें। निक्षेपधर्त्ता को दरिद्र नहीं होना चाहिये तथा वह आर्यवृत्ति (श्रेष्ठ) वृत्ति का पालन करता हो ये उक्त सभी गुण अपेक्षित माने गये हैं।

स्मृतिकारों ने उक्त गुणों से युक्त व्यक्ति पर भी पूर्ण विश्वास न करते हुए मानव की स्वभाव सुलभ दुर्बलता को ध्यान में रखते हुए उपनिधि प्रकरण में साक्षी की व्यवस्था दी है। यदि कदाचित् निक्षेपधर्ता प्रलोभवश उपनिधि को न देना चाहे तो उस समय साक्षी ही एकमात्र ऐसा व्यक्ति होता है जिसकी सहायता से राज्य व्यवस्था स्थापक को उसका द्रव्य वापस दिला सकती है। अत एव याज्ञव-ल्क्य ने साक्षी के स्वरूपों की ओर ध्यान आकृष्ट कराया है—

तपस्विनो दानशीलाः कुलीनाः सत्यवादिनः ।
धर्मप्रधाना ऋजवः पुत्रवन्तो धनान्विताः ॥ ६८

त्र्यवराः साक्षिणो ज्ञेया श्रौतस्मार्त क्रियापराः
यथा जाति यथा वर्ण सर्वे सर्वेषु वा स्मृता ॥ ६९ या० स्मृति०

इस प्रकार साक्ष्य विधान करने के पश्चात् भी समस्या उत्पन्न होती है कि यदि किसी समय साक्षी को भी प्रलोभन देकर उसे उसके कर्त्तव्य से च्युत कर दिया जावे और निक्षेप धारक प्रथम ही न देने की अनुचिन्तना कर चुका हो तो निक्षेप स्थापक को उसका द्रव्य किस प्रकार प्राप्त हो ? इस प्रकार की समस्या उपस्थित होने पर स्मृतिकार कहते हैं कि साक्षी को राजकीय व्यवस्था के अनुसार पूर्णतया प्रभावित किया जावे कि वह सत्य रूप में स्वीकृत साक्षी भाव को प्रकट करे यदि फिर भी वह साक्ष्य को उत्सुक नहीं होता है, तब न्यायाधिकारी का कर्तव्य है कि वह वास्तविकता का ज्ञान करे। इस प्रसङ्ग में मनु महाराज पर्याप्त प्रकाश डालते हैं—

यो निक्षेपं याच्यमानो निक्षेप्तुर्न प्रयच्छति ।
स याच्यः प्राङ्विवाकेन तन्निक्षेप्तुरसन्निधौ ॥
साक्ष्यभावे प्रणिधिभिर्वयो रूपसमन्वितैः ॥
अपदेशञ्च संन्यस्य हिरण्य तस्य वस्त्वतः ॥
स यदि प्रतिपद्येत यथा न्यस्तं यथा कृतम् ॥
न तत्र विद्यते किञ्चित्परैरभियुज्यते ॥
तेषां न दद्याद्यदि तु तद्धिरण्यं यथाविधि ॥
उभौ निगृह्य दाप्यः स्यादिति धर्मस्य धारणा ॥ मनु स्मृ० अध्याय ८ ॥

अर्थात् न्यायाधीश अपने गुप्तचरों के द्वारा वस्तु स्थिति का ज्ञान करने के लिये किसी वस्तु

को निश्चित करावे पुनः उसको लाने का आदेश दे, यदि वस्तु प्रत्यर्पित हो जाती है तो इसका अर्थ है कि निक्षेप धारक निर्दोष है और उस पर निक्षेप स्थापक ने असत्य अभियोग चलाया है। यदि वह धरोहर को वापिस न करे तो न्यायाधीश को उसे दण्डित करते हुए उससे निक्षेप वापिस दिलानी चाहिए। कभी-कभी देखने में आता है कि कोई व्यक्ति वस्तु निक्षिप्त करके विदेश आदि जाने पर पुनरावृत्त नहीं होता है तथा वह अब जीवित नहीं है ऐसा सिद्ध हो जाता है ऐसी परिस्थिति उत्पन्न होने पर निक्षेप किसको प्रत्यर्पित की जावे इस समस्या का समाधान स्मृतिकारों ने मृत-व्यक्ति के उत्तराधिकारी को देने से किया है। वास्तव में उत्तराधिकारी कौन है इसका निर्णय राज व्यवस्था के साथ होना चाहिए।

यदि कभी दैवी आपत्ति आने पर निक्षिप्त वस्तु नष्ट हो जाती है तब विक्षेपधर्त्ता को मुक्त कर दिया जाता है, परन्तु यह मुक्ति निम्न अवस्थाओं में ही मान्य हो सकती है—

चोरैर्हृतं जलेनोढ़मग्निना दग्धमेव वा।
न दद्याद्यदि तस्मात्स न संहरत्ति किञ्चन्॥ मनु-स्मृति अध्याय ८ ॥

यदि द्रव्य चोरी हो गया है अथवा जलप्रवाह होने पर नष्ट हो गया है अथवा जल कर नष्ट हो गया है तो ऐसी स्थिति में निक्षेप को प्रत्यर्पित करने का उत्तरदायित्व नहीं रहता है। परन्तु सामान्य स्थिति में निक्षेप हर दशा में वापिस करने योग्य ही होती है। इस प्रकार संक्षेप से मानव व्यवहार में उपनिधि प्रकरण को स्मृति में दर्शाया गया है।

□

त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः।
ततो विश्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि॥ ऋ० १०.९०.४

यह संसार रहित तीन पैरों वाला पुरुष इस अज्ञान के संसार से परे है। इस परमात्मा का एक अंश इस संसार में सृष्टि एवं प्रलय के द्वारा बार-बार आता-जाता रहता है। तत्पश्चात् सर्वत्र व्याप्त होते हुए वह विराट पुरुष खाने वाले चेतन प्राणी और न खाने वाले अचेतन (पर्वत, नदी आदि) दोनों प्रकार के जगत् को लक्षित करके व्याप्त है।

ऋषि दयानन्द निर्वाण शताब्दी के अवसर पर—

आर्य समाज का भावी कार्यक्रम

श्री बलभद्र कुमार हूजा
कुलपति
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

१—आर्य समाज का कार्यक्रम स्वतन्त्र रुप से सच्चे मानव के निर्माण का कार्यक्रम है अब समय आ गया है जब आर्य समाज के भावी कार्यक्रम केवल साम्प्रदायिक सुधार तक सीमित न रहकर श्रेष्ठ मानव बनाने के कार्यक्रम हों।

२—इक्कीसवीं सदी का समय चुनौतियों का समय है, आज आवश्यकता इस बात की है कि हम अपनी वैचारिक पूंजी अधिकाधिक रूप में साहित्य और कला के रूप में प्रस्तुत करें। आज का मानव अपनी रुचि की सामग्री साहित्य और कला के झरोंकों से पढता देखाता है। जन जन में वैदिक धर्म के प्रचार के लिए आर्य समाज का यह कार्यक्रम होना चाहिये कि वैदिक साहित्य सस्ती दरों पर विपुल रूप में वितरित हो सके, प्रत्येक आर्य समाज वैदिक सिद्धान्तों एवं ऋषि दयानन्द के विचारों को व्यक्त किये जाने वाली छोटी—छोटी पुस्तिकाओं के सेटों के वितरण का एक ऐसा केन्द्र होना चाहिये जिसके द्वारा उस शहर के सभी पुस्तकालयों, कॉलेजों सार्वजनिक सभागारों में यत्र यत्र आने वाले सभी नागरिकों को इस प्रकार की पुस्तिकायें, कैसेट, विडियो आदि सहज रूप में मिल सके।

३—विश्व का मानव आज आध्यात्मिक क्षुधा से आकुल है, भौतिक भोजन से अतृप्त आज का मनुष्य मानसिक परितोष को प्राप्त करने के लिये छटपटा रहा है, सच्चे मार्ग की खोज में आज का बुद्धिजीवी अतिकल रूप से बैचेन है, व्यथित एवं संतप्त विश्व के मानव समुदाय को वेदों की पीयूष-धारा में स्नान कराने की विपुल जिम्मेदारी आर्य समाज के कन्धों पर है, वैदिक धर्म के सन्देश को विश्व के कोने-कोने तक पहुँचाने हेतु आज ऐसे आर्य प्रचारकों की आवश्यकता है जो विदेशी तथा संस्कृत भाषा में निष्णात हो, विश्व के सुदूर अंचलों में वैदिक धर्म का प्रकाश फैलाने का महान् उत्तरदायित्व आर्यसमाज का ही है।

४—आर्यसमाज का शैक्षणिक कार्यक्रम अब स्कूल एवं कॉलेज खोलने के साथ-साथ वैदिक साहित्य के अनुसंधान संस्थानों के खोलने का होना चाहिये। ऋषि दयानन्द के विचारों पर अधिकाधिक अध्ययन एवं शोध कराये जाने हेतु दयानन्द पीठों की स्थापना का व्यापक कार्यक्रम अब आर्य समाज के शैक्षणिक कार्यक्रमों के अन्तर्गत अविभाज्य रूप से माना जाना चाहिये। इस दृष्टि से आर्य समाज अजमेर के प्रयत्नों की सराहना की जानी चाहिये, जिसके द्वारा दयानन्द शोधपीठ की स्थापना

राजस्थान सरकार के सहयोग से अजमेर में हो सकी। इस प्रकार के शोध पीठों की स्थापना का क्रम आर्य जनों की जाग्रति से ही पूरा किया जा सकता है।

५—वेद मन्त्रों के सर्वप्रिय अर्थ आज के परिप्रेक्ष्य में किये जाने परम आवश्यक हैं, विभिन्न विषयों के विशेषज्ञ अपने-अपने विषय ज्ञान के भण्डार के साथ वेदों के अर्थ का प्रतिपादन करें, जिससे वेद का ज्ञान सर्वसाधारण के लिये उपलब्ध हो। वेद मन्त्रों से वैज्ञानिक सिद्धान्तों का विमोचन हो

६—विगत शताब्दी आर्य विचारों, मान्यताओं एवं वैदिक सिद्धान्तों के प्रचार की शताब्दी थी। हमें उसमें यथेष्ट सफलता नहीं मिली। २१वीं शताब्दी में विषय के मंच पर वेद मंत्रों का वैज्ञानिक स्वरूप प्रकट करने के लिये वैदिक वाङ्मय के विपुल शोध की जिम्मेदारी आर्य समाज नहीं लेगा तो कौन लेगा ? वेदों के अंग्रेजी तथा अन्य विदेशी भाषाओं में व्याख्या ग्रन्थ निकलने चाहियें। वैदिक सिद्धान्तों को प्रकाश में लाने वाले साहित्य का व्यापक रूप से विदेशी भाषाओं में सृजन करवा कर विश्व के प्रत्येक अंचल में इस आध्यात्मिक प्रकाश को फैलाने का महान् उत्तरदायित्व प्रत्येक आर्यसमाज पर है।

७—आर्यसमाज के सभी शिक्षा संस्थानों में शैक्षणिक एवं सांस्कृतिक क्रिया-कलापों के अन्तर्गत ऋषि दयानन्द के वैचारिक दर्शन का प्रतिबिम्ब अभिमुख होना चाहिये। आर्यसमाज के अन्तर्गत आने वाली सभी शिक्षा संस्थानों का केवल एक सूत्रीय कार्यक्रम होना चाहिये वह है—संस्थान में पढ़ने वाला प्रत्येक छात्र ऋषि दयानन्द के विचारों से और आर्यसमाज के दस नियमों से ओत-प्रोत होकर सदाचारी वृत्ति लेकर निकले। प्रचार, प्रसार के तथा गुरुजन के दृष्टान्त से ही आर्यसमाज एक जीवन्त संस्था के रूप में कार्य कर सकेगा और अपने उत्तरदायित्व को निभाने में सफल होगा अन्यथा यह भी अन्य कितनी ही संस्थाओं के तरह पथभ्रष्ट होकर लुप्त हो जायेगा।

८—आर्य समाज में युवावर्ग को आकृष्ट करने हेतु आज के बदलते संदर्भ में नये कार्यक्रम चलाये जाने चाहियें, प्रत्येक आर्य समाज में व्यायाम-शाला, योग-शिविर, वाद-विवाद प्रतियोगिता, पद-यात्रायें आदि के कार्यक्रम अधिकाधिक रूप में आयोजित किये जाने चाहियें, राष्ट्रीय स्तर पर प्रत्येक वर्ष में आर्य युवकों को प्रशिक्षित किये जाने हेतु छोटे-छोटे शिविर लगाये जाने चाहियें जिसमें आर्य युवक साथ-साथ रहकर बौद्धिक एवं शारीरिक क्षमता का विकास कर आर्य समाज को नींव के प्रहरी बन सकें। सामाजिक कुरीतियों के उन्मूलन में युवक ही सच्चा योगदान दे सकते हैं। प्रत्येक समाज दहेज विरोधी, मद्य निषेध आदि कार्यक्रमों को लेकर युवा शक्ति का प्रभावी उपयोग कर सकता है।

९—षोडश संस्कारों का सर्वसाधारण में प्रचार हो, प्रत्येक संस्कार की सुरभि वैदिक संस्कृति को जीवन शैली से सुरभित हो, आर्य समाज मंदिरों के द्वारा दहेज विरोधी विवाहों का आयोजन

होना चाहिए। सादगी एवं सरल तरीके से वैदिक संस्कार करायें जाने की व्यवस्था से ही हम संस्कारों को घर-घर पहुँचा सकते हैं ।

१०—आर्य समाज की प्रनिनिधि सभायें इतनी शक्तिशाली होनी चाहिये ताकि देश की कोई पार्टी राष्ट्रीय महत्त्व के राजनैतिक सवालों एवं बुनियादी समस्याओं के समाधान में आर्य समाज की भूमिका की अवहेलना न कर सके। प्रतिनिधि सभाओं की राजार्य सभायें (राजनैतिक समितियां) देश हित में आने वाले राजनैतिक दृष्टिकोण को जन मानस के सामने प्रकट करें, राष्ट्रीय नव निर्माण की धारा में आर्य समाज की चट्टान सदृश भूमिका हो। ऐसा स्वरूप सशक्त प्रतिनिधि सभाओं के दिये जाने वाले कार्यक्रमों से ही संभव है।

११—ऋषि दयानन्द की विचार धारा सम्पूर्ण जीवन के सर्वोतम उपयोग हेतु एक गतिशील कार्यक्रम प्रदान करती है। आश्रम व्यवस्था का सुदृढ़ रूप में स्थापित होना समाज को जीवित जाग्रत संस्था बनाये रखने के लिये परम आवश्यक है। जीवन के भोगों को भोगने के पश्चात् आई उपरोक्त वृत्ति का उपयोग वानप्रस्थ एवं सन्साय के रूप में यदि आर्यों में प्रचलन नहीं हुआ तो हमें निस्पृह अध्यापकों तथा प्रचारकों का समुदाय कहां से मिलेगा चूंकि वानप्रस्थ एवं सन्यास की वृत्तियां आचरण में क्रियान्वित नहीं हुई इसलिये आर्य समाज का शिक्षा प्रचार, प्रसार का चक्र अवरुद्ध है।

१२—दूर संचार साधनों के व्यापक प्रसार से आज की समूची प्रचार व्यवस्था तत्सबन्धी साधनों पर आश्रित है। वैदिक संदेश को जन-जन तक पहुँचाने हेतु दूर दर्शन, आकाशवाणी, समाचार पत्रों, वृत-चित्रों आदि के माध्यम उपयोग में लाने के लिये आर्य विद्वानों को सामग्री तैयार करनी चाहिये। जिस तरह गुरुवाणी या योग का विशेष यथेष्ट रूप से दूरदर्शन एवं आकाशवाणी आदि साधनों में नियमित प्रचारण होता है, उसी प्रकार वेद मंत्र की सस्वर व्याख्यायें भी इन साधनों के द्वारा क्यों न अधिकाधिक प्रचारित हों ?

१३—आर्य समाज को जीवन्त रूप से ज्योतिर्मय बनाने के लिये यह आवश्यक है कि प्रत्येक आर्य सभासद स्वामी दयानन्द के निर्देशानुसार ईमानदारी से आर्य समाज को अपनी आय का शतांश दे, जिससे आर्य समाजों की हालत सुधरे और प्रत्येक आर्य समाज में एक विद्वान् पुरोहित हो। वैदिक संस्कारों को प्रभाव शाली ढंग से कराये जाने की व्यवस्था प्रत्येक आर्य समाज में होनी परम आवश्यक है। इसके बिना योग्य पुरोहितों एवं प्रचारकों के निर्माण हेतु प्रतिनिधि सभाओं द्वारा व्यापक प्रशिक्षण शिविरों का आयोजन किया जाना चाहिये।

१४—प्रत्येक आर्यसमाज में एक मेटाडोर वाहन तथा चलते फिरते पुस्तकालय की व्यवस्था होनी चाहिये जिससे उस क्षेत्र के दूर-दराज गांवों की परिधि चलती फिरती प्रचार व्यवस्था के अन्तर्गत आ जाये। चलती-फिरती प्रचार व्यवस्था का क्रम अविलम्ब हमारे समाजों में तेजी से बढ़ना चाहिये, तभी हम सर्वव्यापी अन्धकार को दूर कर पायेंगे। □

घर को आग लग रही घर के चिराग से

—डॉ० त्रिलोकचन्द
दर्शन विभाग,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

भारत भूमि पर समय-समय पर अनेक सन्त महात्माओं ने जन्म लेकर इसकी गरिमा को बढ़ाया है। इन महापुरुषों ने अपने-अपने समय में धर्म और संस्कृति की रक्षा की है। इन्होंने अपनी–अपनी विचारधारा के अनुसार अनेक सम्प्रदायों को जन्म दिया। जैसे—नाथ सम्प्रदाय, दसनामी सम्प्रदाय, उदासीन सम्प्रदाय, रामानुज सम्प्रदाय, सखि सम्प्रदाय आदि आदि।

विक्रमी सम्वत् १५२६ ई० में पंजाब के 'रायभोये की तलवंडी' (वर्तमान ननकाना साहिब) नामक गांव के एक खत्री परिवार में महान् सन्त गुरु नानक देव ने जन्म लिया। इनके पिता का नाम श्री कालूराय खत्री तथा माता का नाम तृप्ता और बहन का नाम नानकी देवी था। यह एक कट्टर हिन्दू परिवार था। आगे चलकर श्री गुरु नानकदेव के दो पुत्र भी हुए, जिनमें से एक का नाम श्री चन्द्र था, जिन्होंने उदासीन सम्प्रदाय को चलाया तथा दूसरे श्री लक्ष्मीदास थे।

सन्त नानक देव की वाणी में भौतिक और आध्यात्मिकवाद का समन्वय है। यह समन्वय वेदों में भी है। श्री गुरु नानक देव के उपदेश कबीरदास, रविदास, आदि सन्तों से मिलते हैं। कुछ लोग तो श्री गुरु नानकदेव को कबीरदास का अवतार मानते हैं। सन्त श्री गुरु नानकदेव ने लोगों को सरल भाषा में सच्चाई का मार्ग दर्शाया। उनके अनेकों शिष्य हो गये। श्री गुरु नानकदेव के पश्चात् उनकी शिष्य परम्परा में नौ गुरु और हुए, जिनके नाम हैं—श्री गुरु अंगददेव, श्री गुरु अमरदास जी, श्री गुरु रामदास जी, श्री गुरु अर्जुनदेव जी, श्री गुरु हरगोविन्द जी, श्री गुरु हरराय जी, श्री गुरु हरकिशन जी, श्री गुरु तेजबहादुर जी और श्री गुरु गोविन्दसिंह जी। ये सभी गुरु हिन्दू थे। हिन्दू धर्म के अन्तर्गत यह सम्प्रदाय उसी प्रकार से चलता रहा, जिस प्रकार अन्य अनेक सम्प्रदाय चल रहे हैं।

श्री गुरु तेगबहादुर के समय में औरंगजेब का अत्याचार चरम सीमा पर था, हिन्दुओं को जबर-दस्ती मुसलमान बनाया जा रहा था। इस अत्याचार से तंग होकर कुछ कश्मीरी पण्डित इकट्ठे होकर श्री गुरु तेगबहादुर के पास गये और रोकर कहने लगे—"हे गुरु हमारी रक्षा करो। हमें औरंगजेब जबर–दस्ती मुसलमान बना रहा है।" यह देखकर कट्टर हिन्दू सन्त श्री तेगबहादुर दुःखी हुए और उन्होंने उनसे कहा कि औरंगजेब से जाकर कह दो कि हमारा गुरु तेग बहादुर यदि पहले हिन्दू से मुसलमान हो जाये तो हम भी हो जायेंगे। इस पर औरंगजेब ने श्री गुरु तेगबहादुर को दिल्ली बुलवाया। श्री गुरु अपने पांच शिष्यों सहित दिल्ली पहुँचे। औरंगजेब ने कहा—"आप मुसलमान हो जाओ, सब

सुविधाएं मिलेगी। श्री गुरु ने कहा—"आप हिन्दू हो जाओ।" औरंजगजेब ने कहा, मैं मुसलमान हूं, हिन्दू कैसे बन सकता हूँ ? श्री गुरु ने कहा, तो फिर मैं हिन्दू मुसलमान कैसे बन सकता हूँ ? इस पर औरंगजेब ने क्रुद्ध होकर श्री गुरु को भयभीत करने के लिये उनके पांचों शिष्यों की बड़े निर्मम ढंग से हत्या करवा दी। एक को जिन्दा आरे से चिरवा दिया। दूसरे को उबलते पानी में डालकर आलू की की तरह उबाल दिया गया। श्री गुरु इतना होने पर भी अडिग ही रहे। वे हिन्दू से मुसलमान नहीं बने। उन्होंने अपना भी बलिदान दे दिया परन्तु धर्म नहीं छोड़ा। दिल्ली चान्दनी चौक में बना गुरुद्वारा सीसगंज श्री गुरु तेगबहादुर की यादगार है। जहां आज भी प्रतिदिन हजारों लोग श्रद्धा से अपना सीस झुकाते हैं।

इसके पश्चात् श्री गुरु गोविन्दसिंह ने लगभग २५० वर्ष पूर्व खालिस (केवल) हिन्दू धर्म की रक्षा के लिये अपने शिष्यों की एक सेना बनाई, जिसका कार्य केवल हिन्दुओं को मुगलों के अत्याचारों से बचाना था। प्रत्येक सिपाही के लिये पांच नियमों का पालन करना जरूरी था, जिसका वर्णन इस प्रकार है—केस, कंघा, कड़ा, कचहरा (कच्छा) ओर कृपाण। केश रखने का अभिप्राय यह था कि उस से दुश्मन के हथियारों से कुछ सीमा तक रक्षा हो सके तथा व्यक्तित्व अधिक प्रभावी बन सके। श्री गुरु गोविन्दसिंह ने स्वयं कहा था—

सवा लाख से एक लड़ाऊ, तभी गोविन्दसिंह नाम कहाऊं।

कंघा, केशों को ठीक रखने के लिये था। कड़े से दुश्मन की तलवार को हाथ पर रोका जा सकता था तथा अवसर पाकर कड़े के प्रहार से भी दुश्मन पर वार किया जा सकता था। कचहरा ब्रह्मचर्य के लिये था। कच्छे से एक लाभ यह भी है कि व्यक्ति आसानी से भाग-दौड़ सकता था। कृपाण तो था ही इसलिये कि किसी भी समय दुश्मन पर वार किया जा सके। इस प्रकार श्री गुरु गोविन्दसिंह ने एक सेना बनाई थी। जिसको उन्होंने सिख पन्थ का नाम दिया। 'सिख' शब्द शिष्य का बिगड़ा हुआ रूप है। खालिस का अर्थ है—सौ प्रतिशत शुद्ध जिसका अर्थ यहां पर यह है कि इस सेना का कार्य शत–प्रतिशत रूप में हिन्दू धर्म की रक्षा करना है और इसके अलावा और कुछ नहीं। 'खालिस' शब्द से खालसा बना इस प्रकार श्री गुरु गोविन्दसिंह इस खालसा पन्थ के प्रवर्तक थे। इस सेना ने हिन्दू धर्म की रक्षा में बहुत ही प्रसंशीय कार्य किया। श्री गुरु गोविन्दसिंह के इस कार्य को सराहना करते हुए किसी ने कहा है—

न कहूं जबकि, न कहूं तबकि, मैं बात करूं अबकि,
अगर गुरु गोविन्दसिंह न होते तो सुन्नत होती सबकी॥

आज वही सेना हिन्दुओं पर अत्याचार कर रही है, जो रक्षा के लिये बनायी गई थी। वही आज विनाश कर रही है और वह भी इनके इशारे पर जिनसे कभी उसने अपने हिन्दू धर्म की रक्षा की थी। घर का दिया ही घर को जला रहा है। आज श्री गुरु गोविन्द सिंह की आत्मा क्या कहेगी ?

रो पड़ेगी आत्मा, गुरु गोविन्दसिंह की, जानकर हालात को।
फिर सम्हलकर पूछेगी, किसने बहकाया, हे सिखों आपको॥

गुरुग्रन्थ साहिब में कहीं भी ऐसा नहीं है, किसी गुरु की ऐसी आज्ञा नहीं है, जैसा आज कुछ सिख कर रहे हैं। ऐसे समय में सिखपन्थ के विद्वानों, धार्मिक नेताओं, ग्रन्थियों आदि का यह कर्तव्य है कि वे ऐसे सिखों को सच्चाई बतलायें और उन्हें गुरुगोविन्द सिंह के बनाये नियमों के प्रतिकूल चलने से रोकें। □

पुस्तक-समीक्षा

पुस्तक का नाम	—	हिमालय दर्शन
सम्पादक		योगेश चन्द्र बहुगुणा
प्रकाशक	—	हिमालय दर्शन प्रकाशन समिति शिवानन्द नगर, टिहरी गढ़वाल उ० प्र०।
संकलित लेख संख्या	—	५१
पृष्ठ संख्या	—	३७०
मूल्य	—	३५ रुपये।

अदम्य महत्वाकांक्षाओं का प्रतीक हिमालय सदियों से उन्नति और स्थिरता की शिक्षा जन जीवन को प्रदान करता हुआ भारत की उत्तर सीमा पर विराजमान है। इतिहास को दृष्टि में रखकर यदि कुछ कहा जाये तो यह कहना शतशः समीचीन होगा कि भारत की उन्नति का मूल रहस्य हिमालय के उत्तुंग शिखरों, गुरु गम्भीर गह्वरों, अपार जल स्रोतों और समृद्ध वनस्पति राशियों में निहित है।

हिमालय के इन रहस्यों को जिज्ञासु पाठकों के हितार्थ उद्घाटित करने के लिये श्री योगेश चन्द बहुगुणा ने 'हिमालय दर्शन' के नाम से इस पुस्तक का सम्पादन करके स्तुत्य कार्य किया है। इस पुस्तक का सम्पादन हिमालय के अनन्य सेवी श्री सुन्दरलाल बहुगुणा और शान्तिलाल जी त्रिवेदी को यशः काम के रूप में अमर करने के लिये किया गया है। इस पुस्तक में ५१ लेखों का सुन्दर संगम है, जिसमें हिमालय के विविध रूपों का प्रकाशन किया गया है। लेखों के अध्ययन से हिमालय की गरिमा का वास्तविक ज्ञान पाठक को होता है। पुस्तक आद्योपान्त पठनीय और अनुशीलनीय है।

डा० विजयपाल शास्त्री
दर्शन विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

गताङ्क से आगे—

ईश्वरीय ज्ञान वेद-प्रकाश किन पर हुआ ?

लेखक—डा० रामेश्वर दयाल गुप्त-(M.A.)Ph. D.

अब तक इस पर विचार हो चुका है कि मनुष्य के स्वाभाविक ज्ञान पर प्रभु के ज्ञान की पुट नैमित्तिक रूप से उसके मानस पर प्रकाश द्वारा पड़ती है । महर्षि दयानन्द सरस्वती ने शतपथ (११-५-८-३) का उद्धरण देते हुये बताया है कि सर्गारम्भ में वह ज्ञान अग्नि, वायु, आदित्य ऋषियों के हृदय में प्रकाशित हुआ था [अग्नेर्ऋग्वेदः वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात् सामवेदः] मनुस्मृति १/२३ में भी यही बात दुहराई है । परन्तु इन ऋषियों को ही क्यों ज्ञान दिया । ज्ञान तो सर्गारम्भ में उत्पन्न सब जीवों को दिया जाना अपेक्षित था । स्व० महात्मा नारायण स्वामी जी का मत था कि आदि जीवों ने अपने में जिन को सर्वोत्कृष्ट समझा उनको प्रमाणीभूत मानकर उनके आगे सिर झुका दिया और उनके ज्ञान से ही अपने को परीक्षित करने लगे जैसे कक्षा में मानिटर होता है । इन ऋषियों के अतिरिक्त अन्यों में ज्ञान ग्रहण करने की शक्ति ही नहीं थी । वे मुक्ति से लौटे हुये जीव थे, विशेष क्षमता से सम्पन्न थे अतः यह पद विशेष हैं, नाम विशेष नहीं । हर सर्गारम्भ में पात्र चुने जाते हैं और उनकी संज्ञा, अग्नि वायु, आदित्य प्रभृति हो जाती है । ऋग्वेद १०/७१/३ में जो कहा है अन्वविन्दन ऋषिषु प्रविष्टाम" उसका यही भाव है । ऋग्वेद ५/४४/१५ की ऋचो अग्निर्जागार तमृचः कामयन्ते० का भाव यही है कि जो अग्निवत (नेता-ऋषि) जागता है—भ्रमण करता है, उसे ऋचा प्राप्त होती है । यहां अग्नि का अर्थ अग्नि ऋषि नहीं बल्कि पातृत्वशील के हैं । साम भाग अर्थात् वेद मन्त्रों के गान की क्षमता भी उन्हें ही प्राप्त होती है ।

बहुत से लोग यह भी कहते हैं कि "अनन्ता वै वेदाः" होने से २५००० ऋचाओं मात्र में सृष्टि का सारा ज्ञान कैसे आ सकता है । वास्तव में सृष्टि के आदि में मिला ज्ञान वेद का अंश है, अतः वेद है और उस अनन्त वेद में प्रविष्ट होने का साधन है, न कि सम्पूर्ण ईश्वरीय ज्ञान है । ज्ञान की कोई सीमा नहीं होती । ज्ञान का अंश ऋषियों पर उद्भासित हुआ ऋषियों ने अन्यों को दिया । ज्ञान का प्रकाश "धियं जिन्वमहसे" मानव की बुद्धियों में सतत भी प्रकाशित होता रहता है । तभी गायत्री मंत्र में प्रार्थना है-धियो यो नः प्रचोदयात् । वेद तो उस ज्ञान के मापक तथा प्रेरणात्मक मन्त्रभाग हैं । वह ज्ञान सूत्र रूप में है ।

ईश्वरीय ज्ञान की कसौटी—इलहाम की आवश्यकता और उद्भासित होने की पद्धति पर चर्चा करके अब हमें देखना यह है कि वह ईश्वरीय ज्ञान वेद ही है या अन्य तथा कथित धर्म ग्रन्थ । इस का निर्णय करने के लिये हमें कुछ कसोटियाँ निर्धारित करनी होंगी जिन पर विविध ग्रन्थ परीक्षित किये जा सकें ।

ताकि किसी ज्ञान-संचय को ईश्वरीय कहा जा सके। उसमें निम्न विशेषतायें होनी चाहिये—

१ यह ज्ञान सृष्टि या सर्ग के प्रारम्भ ही में दिया जाना चाहिये, क्योंकि आदि मानव से अब तक सभी को उसकी प्रेरणा की आवश्यकता है।

२ अतः उस संचय में इतिहास नहीं होना चाहिये, क्योंकि किसी भी ऐतिहासिक पुरुष के जन्म से पहले उसकी विद्यमानता अपरिहार्य है।

३ उसमें त्रैकालाबाधित सत्य अर्थात् ऋत शाश्वत नियम होने चाहियें।

४ उसकी भाषा बनावटी न होकर प्राकृत होनीं चाहिये। तथा वह भाषा स्वर शास्त्र के अनुकूल हो।

५ उसमें मनुष्य जाति का उन्नायक सत्साहित्य हो, जिसे पूर्ण ज्ञान की संज्ञा दी जा सके।

६ उसमें एक मस्तिष्क की ही कृति होने के कारण पूर्वापर विरोध न हो।

७ उसमें सृष्टि क्रम के विरुद्ध अवैज्ञानिक बातों का पृष्टि-पोषण न हो न ऐसी असंगतियाँ घोषित की गई हों।

८ उसमें प्रक्षेप न हो तथा ऐसे प्रबन्ध कर दिये गये हों कि सम्प्रदायों के अगुआ अपनी बात न मिला सकें।

९ उसमें अनावश्यक पुनरुक्ति न हो।

१० उसकी अन्तः साक्षी अर्थात् स्वतः प्रमाण जन्य संकल्प उसी में हो।

११ आप्त जनों ने युगों-युगों में उसे ईश्वरीय माना हो।

अब इनमें से प्रत्येक पर ऊहा-पोह करके देखेंगे कि इन कसौटियों पर वेद-संहितायें ठीक उतरती हैं या नहीं। (क्रमशः)

□

सम्मति (अभिमत)

वैदिक कन्सेप्ट ऑफ योग मेडिटेशन—देवेन्द्र कपूर

यह एक निर्विवाद तथ्य है कि भारत ने मध्य युग में एवं उसके बाद भी मानवीय व्यक्तित्व में विद्यमान आध्यात्मिक शक्तियों की उन्नति पर विशेष बल दिया है। जिसके परिणामस्वरूप आध्यात्मिक क्षेत्र के अतिरिक्त अन्य क्षेत्र उपेक्षित एवं गौण हो गये। ठीक इसके विपरीत पश्चिमी जगत् ने मानव समाज की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति पर विशेष ध्यान दिया और उसकी आध्यात्मिक शक्तियों को प्रेरित करने का कोई प्रयास नहीं किया। जिसके कारण मानव अस्तित्व अनेक स्तरों पर तनावों से ग्रसित हो गया। विश्व की दो महान् शक्तियों के मध्य आणविक शस्त्रों की होड़, सम्प्रभु राष्ट्रों के मध्य चल रहे युद्ध, जातीय वैमनस्यता तथा लोगों में व्याप्त प्रान्तीयता की भावना ने समस्त मानव जाति को पारस्परिक विपरीत गुटों में ला दिया है।

ये सभी बातें एक ऐसी मनोदशा को प्रकट करती हैं जो कि सम्पूर्ण रूप में भ्रमित और भ्रान्तियुक्त है तथा सुव्यवस्थित चिंतन से संचालित नहीं है। मानसिक शान्ति से तात्पर्य वैयक्तिक शान्ति से है और यही विश्व शान्ति का आधार है। अत: आवश्यकता है ऐसे साधनों एवं उपायों को उपलब्ध कराने की, जो कि दिग्भ्रमित मन को अनुशासित एवं स्थिर कर सकें।

श्री देवेन्द्र कपूर ने अपनी पुस्तक "योग ध्यान की वैदिक धारणा" में मानव समाज में व्याप्त तनावों के कारणों पर अनुसंधान किया है और शांत मन: स्थिति के लिये मन को साधने के महत्त्व को समझते हुए, इसी मूल विषय को अपनी सम्पूर्ण पुस्तक का आधार बनाया है। प्रस्तुत पुस्तक में उन्होंने १८ वेदमंत्रों पर आधारित अट्ठारह ध्यान विधियों पर व्यापक रुप में प्रकाश डाला है। इन ध्यान विधियों का मैंने अविच्छिन्न रूचि के साथ अध्ययन किया है और मैंने अनुभव किया कि इन वैदिक मन्त्रों का मन पर गहरा प्रभाव पड़ता है और ये मंत्र विचारों को गहनता प्रदान करते हैं। वस्तुत: में मंत्र का वास्तविक उद्देश्य जैसा कि शब्द की व्युत्पत्ति से ज्ञात होता है, मन की चिन्तन शक्ति को एक निश्चित दिशा एवं स्थिरता प्रदान करना है। इन विचारोत्तेजक व्याख्याओं में उल्लिखित मन पर संयम प्राप्त करने की विधियों से मेरा पूर्ण विश्वास है कि पाठक वर्ग अत्यन्त लाभान्वित होगा एवं योगध्यान विधि की वैदिक धारणा से पूर्ण रूपेण परिचित होगा।

श्री कपूर जी ने अपनी इस उल्लेखनीय कृति द्वारा वैदिक विद्वत्ता के क्षेत्र में एक अमूल्य सेवा, आध्यात्मिक रूप से पीड़ित मानवता को प्रदान की है, जिसके लिए मैं उनको हार्दिक बधाई देता हूँ।

रामप्रसाद वेदालंकार
आचार्य एवं प्रो-वाइस चांसलर
गुरुकुल कांगड़ी यूनिवर्सिटी हरिद्वार।

पुस्तक-समीक्षा

पुस्तक का नाम—वर्ल्ड पर्सपेक्टिव ऑन स्वामी दयानन्द

लेखक — डॉ० गङ्गाराम गर्ग

प्रकाशक — कनसैप्ट पब्लिशिंग कम्पनी
एच-१३ बाली नगर, पो० बो० ६२७४
नई दिल्ली-११००१५

पृष्ठ — XLVI+५६२,

साईज — १४×२२

मूल्य — रु० २५०

स्वामी दयानन्द निर्वाण शताब्दी समारोह ३ नवम्बर १९८३ से ६ नवम्बर १९८३ तक अजमेर में अत्यन्त धूमधाम से मनाया गया। इस समारोह की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि स्वामी दयानन्द सम्बन्धी साहित्य का प्रकाशन रही। इसी शृंखला में डॉ० गंगाराम जी गर्ग (भूतपूर्व कुलपति, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार) द्वारा सम्पादित यह पुस्तक भी एक कड़ी है। डॉ० गंगाराम गर्ग जी ने यह पुस्तक गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की सीनेट के अनुरोध पर लिखी है तथा महर्षि दयानन्द निर्वाण शताब्दी के अवसर पर विश्वविद्यालय की ओर से यह अनुपम भेंट है। उक्त पुस्तक का सम्पादन करके जहाँ विद्वान् लेखक ने आर्यसमाज एवं स्वामी दयानन्द सम्बन्धी साहित्य में श्री वृद्धि की है, वहीं स्वामी दयानन्द पर अंग्रेजी भाषा में लिखित प्रामाणिक एवं देश विदेश के गणमान्य विद्वानों के विचार-पुष्पों का इस 'ग्रन्थ-माला' में गुम्फन करके एक अभाव का अभाव करने का संस्तुत्य प्रयास किया है।

इस पुस्तक में विद्वान् लेखक ने ऋषि दयानन्द के चरित्र एवं उनकी मान्यताओं को प्रामाणिक रूप में प्रस्तुत किया है। 'गुलाब की पंखुडियां' नामक शीर्षक में देश विदेश के प्रसिद्ध एवं शीर्षस्थ व्यक्तियों की ऋषि दयानन्द विषयक उक्तियों का गुम्फन किया है। इसके अतिरिक्त देश विदेश के उच्च कोटि के ५३ विद्वानों द्वारा लिखे गये गम्भीर एवं शोधपूर्ण लेखों का संकलन भी ऋषि दयानन्द पर नयी विचार सरणि के द्वार उद्घाटित करता है। ग्रन्थ के अन्त में डॉ० भवानी लाल भारतीय द्वारा संकलित सन्दर्भ सूची दी गयी है। इस पुस्तक की भूमिका अमेरिकी विद्वान् 'श्री कैनथ जोन्स' द्वारा लिखी गई है। पुस्तक की साज-सज्जा एवं छपाई भी बहुत सुन्दर है। कुल मिलाकर संक्षेप में उक्त ग्रन्थ के विषय में कहा जा सकता है कि यह ग्रन्थ अंग्रेजी भाषा में स्वामी दयानन्द पर लिखे गये साहित्य में एक अद्भुत ग्रन्थ है।

इस ग्रन्थ की बहुत से पत्र-पत्रिकाओं द्वारा साधुवाद एवं प्रशंसा की गयी है। इनमें १५ जनवरी १९८४ साप्ताहिक 'आर्य मर्यादा' जालन्धर में प्रकाशित सम्पादकीय टिप्पणी में गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के माननीय कुलाधिपति श्री वीरेन्द्र जी एवं १५ जनवरी १९८४ के आर्यमित्र पत्र में

स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती द्वारा उल्लिखित टिप्पणियां उल्लेखनीय हैं। श्री वीरेन्द्र जी ने इस ग्रन्थ के अंग्रेजी भाषा में सम्पादन एवं श्री हिदायतुल्ला (उपराष्ट्रपति, भारत सरकार) द्वारा अपने सन्देश में दी गयी ऋषि दयानन्द के प्रति श्रद्धाञ्जलि को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना है।

उनके अनुसार—"गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के भूतपूर्व कुलपति डॉ० गंगाराम गर्ग ने महर्षि दयानन्द के विषय में अंग्रेजी में एक पुस्तक प्रकाशित की है। जिसमें भारत और बाहर के देशों के बड़े-बड़े विद्वानों ने महर्षि दयानन्द के विषय में अपने-अपने विचार दिये हैं। इस पुस्तक को पढ़ कर हमें पता चलता है कि संसार ने महर्षि दयानन्द को किस रूप में देखा है। बड़े-बड़े यूरोपीय विद्वानों ने महर्षि की विचारधारा, उनके सिद्धान्तों और उनके व्यक्तित्व के विषय में बड़े सुन्दर लेख लिखे हैं। प्रायः सबने इस बात पर बल दिया है कि महर्षि ने वेदोद्धार के लिये जो कुछ किया है, वह किसी और ने नहीं किया·········।

मेरा लिखने का अभिप्राय केवल यही हैं कि महर्षि निर्वाण शताब्दी के सम्बन्ध में जो साहित्य प्रकाशित हुआ है उसमें डॉ० गंगाराम जी गर्ग की इस पुस्तक का विशेष स्थान है।"

वस्तुतः उक्त पुस्तक इस प्रशंसा के योग्य ही है। डॉ० गर्ग जी ने अभी कुछ ही दिन पूर्व अंग्रेजी भाषा में ही संस्कृत साहित्य को एक अद्भुत ग्रन्थ पुष्प(एन इनसाइक्लोपीडिया ऑफ संस्कृत लिटरेचर, साईज–११×२५, पृ० सं० XLV+517,मूल्य-२५० रु०) भेंट किया है। इस ग्रन्थ में संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश साहित्य पर प्राचीन एवं अर्वाचीन कवियों, लेखकों एवं उनकी कृतियों का संक्षिप्त विवरण देकर संस्कृत साहित्य के एक अभाव की पूर्ति की है। यह ग्रन्थ संस्कृत भाषा के जिज्ञासु के लिये अत्यन्त उपयोगी हैं।

वस्तुतः दोनों ग्रन्थ प्रशंसनीय एवं संग्रहणीय हैं।

—डा० राकेश शास्त्री

□

गुरुकुल कांगड़ी के छात्रों के लिये विश्वविद्यालय के विजीटर महोदय पं० सत्यव्रत जी सिद्धान्तालङ्कार का—

सन्देश[1]

"गुरुकुल के इतिहास को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है प्राचीन और आधुनिक प्राचीनकाल का प्रतिनिधित्व मैं करता हूं और आधुनिक का प्रतिनिधित्व आप सब करते हैं। प्राचीन काल में जब हम अंग्रेजों की दासता की बेड़ियों में जकड़े हुए थे, वह युग संघर्ष का युग था। उस समय आर्य समाज का मुख्य कार्य उपदेशक तथा राजद्रोही उत्पन्न करना था जो अंग्रेज सरकार का तख्ता उलट सकें। किन्तु आज स्थिति भिन्न है। हमारा देश स्वतन्त्र है, अतः आज उपदेशक तैयार करने की आवश्यकता नहीं अपितु आज हमारा उद्देश्य विद्वान् तैयार करना है, जो वैदिक संस्कृति का प्रचार और प्रसार कर सकें, जिनका जीवन सरल, ब्रह्मचर्य एवं सदाचार पूर्ण हो। इतना ही नहीं हमारे गुरुकुल में विद्या प्राप्त करने के पश्चात् छात्र देश के हर क्षेत्र में मूर्धन्य हो। वह राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री, संसद–सदस्य, पुलिस–महानिरीक्षक आदि उच्च पदों पर भी विराजमान हो, यही हमारा आधुनिक काल में मुख्य उद्देश्य है। आज समाज की आवश्यकता भिन्न हैं। आज वह समय है जिस में यदि मजिस्ट्रेट, अधिकारी, अथवा शासक आर्य समाजी है तो लोग झुक-झुक कर कहेंगे कि हम भी आर्य समाजी हैं।। इस प्रसंग में उन्होंने अपना उदाहरण भी दिया और कहा कि मैं बचपन से ही अच्छा प्रसारक एवं अच्छा लेखक होने का स्वप्न देखता था, जिसे मेरे निरन्तर प्रयास के कारण साकारता प्राप्त हुई।"

उन्होंने कहा—"कि इस समय यदि मैं बच्चा होता तो मेरा लक्ष्य होता कि मैं प्रेजीडेन्ट बनूं यही आशा मैं आज इस गुरुकुल के विद्यार्थी से करता हूं। इसी सन्दर्भ में उन्होंने अध्यापकों से भी छात्र के साथ निःस्वार्थ भाव से विशेष परिश्रम करने का आग्रह किया और कहा कि वे परिश्रमी छात्र को यदि हो सके तो अतिरिक्त समय में भी समय दें। झगड़ों में न पड़ें। छात्र एवं अध्यापकों का सम्बन्ध मधुर एवं निःस्वार्थ हो। अन्त में उन्होंने गुरुकुलीय भावना के अनुरूप छात्रों का ही गुरुकुल में प्रवेश लिया जाये इस बात पर बल दिया। इसके लिये उन्होंने दिल्ली–गुरुकुल, झज्जर आदि स्थानों

---

१८ नवम्बर १९८३ को डा० सत्यव्रत सिद्धांतालंकार (विजिटर, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय) की अध्यक्षता में एक सभा का आयोजन किया गया। जिसमें अध्यक्ष पद से बोलते हुए उन्होंने कहा कि—

के गुरुकुलों से छात्रों के आगमन का प्रस्ताव रखा, क्योंकि उन्हें हम अपनी गुरुकुलीय भावना के अनुरूप तैयार कर सकते हैं। उन्होंने अंग्रेजी ज्ञान पर भी जोर दिया और कहा "अंग्रेजी भाषा अन्तर्राष्ट्रीय भाषा है, उसका ज्ञान होना चाहिये। हमारे छात्रों की ऐसी योग्यता हो कि वे ऊंची से ऊंची पदवी पाने के लिये परिश्रम कर सकें। अपने भाषण का उपसंहार करते हुए उन्होंने कहा, हमारे समय में नारा था कि सरकारी नौकरी नहीं करनी है। लेकिन इस समय नारा होना चाहिये कि हमें सरकारी नौकरी ही करनी है, ऊंचे पद को प्राप्त करना है, बड़े-बड़े काम करने हैं इसके लिये हम कम्पिटीशन में बैठें। आज देश की अवस्थाएं अनुकूल हैं पहले प्रतिकूल थीं। अतः हम अपने हृदय में भावना भरें कि हमें देश में ऊंचा उठना है। यही हमारा स्वप्न है।

(अन्त में उन्हें धन्यवाद देते हुए कुलपति जी ने कहा कि सन् १९४२ में हमारा नारा था 'अंग्रेजों भारत छोडो' उसके बाद सुभाष चन्द्र बोस ने नारा दिया—दिल्ली चलो तथा तुम मुझे खून दो मैं तुम्हें आजादी दूंगा और अब गुरुकुल के छात्रों का नारा होना चाहिए—भारत सरकार पर कब्जा करो)

प्रस्तुतकर्त्ता—डॉ० राकेश शास्त्री

---

७५ वर्ष पूर्व का गुरुकुल वृत्तांत—

स्वामी श्रद्धानन्द की लेखनी से

प्रस्तुतकर्त्ता—**जगदीश प्रसाद विद्यालङ्कार**

ब्रह्मचारियों का स्वास्थ्य अत्युत्तम है। इस समय एक को भी ज्वारादि रोग नहीं है। पढ़ाई बड़ी उत्तमता से हो रही है दयानन्द के मृत्यु दिवस पर उनके जीवन पर विचार करने के लिये विशेष अनध्याय हुआ चतुर्दशी को दिवाली की तैयारी के लिये छुट्टी दी गई। उस दिन ब्रह्मचारियों ने स्वयं कंडीले तथा पटाके आदि बनाये अमावस के दिन प्रातःकाल ब्रह्मचारी गण कन्दुक-क्रीडा में सम्मिलित रहे और कुछ भ्रमणार्थ अपने अधिष्ठाताओं सहित बाहिर गये सायंकाल पांच बजे से आरम्भ होकर छः बजे बड़ा होम समाप्त हुआ फिर भोजन पश्चात् म० अर्जुनसिंह स्वदेशी खेलों के अध्यापक ने एक दो करतब दिखलाये जिसके पश्चात् ब्रह्मचारियों ने बनेटी, फरी गतकादि के जो खेल सीखे थे उन सबकी परीक्षा दी। कुछ ब्रह्मचारियों के संरक्षक भी आये थे जो यह दृश्य देखकर बहुत प्रसन्न हुए तत्पश्चात सवाआठ बजे से सभी ब्रह्मचारी अध्यापक अधिष्ठाता तथा अन्य सभ्यगण यज्ञशाला

में एकत्रित हुए। वेद मन्त्रों से यज्ञशाला सुसज्जित थी तथा प्रकाश का उत्तम प्रबन्ध था। ब्रह्मचारी जयचन्द्र ने वेद मन्त्र-पूर्वक ईश्वरोपासना प्रार्थना की, जिसके पीछे ब्रह्मचारी ब्रह्मदत्त ने ऋषि दयानन्द की प्रशंसा में कुछ श्लोक स्वर सहित पढ़े। मुख्याधिष्ठाता ने इसके पश्चात् ऋषि दयानन्द की प्रशंसा में कुछ घटनायें पेश करके उनसे शिक्षा ग्रहण करने की प्रेरणा की, साढे नौ बजे यह अधिवेशन समाप्त हुआ। यद्यपि एक, दो तथा तीन श्रेणियों के ब्रह्मचारियों को इस में सम्मिलित होने से मुक्त किया गया था तथापि तृतीय श्रेणी के ब्रह्मचारी विशेष आज्ञा लेकर सम्मिलित हुये।

सायंकाल के खेल बराबर होते हैं जिनमें कुछ ब्रह्मचारी विशेष योग्यता संपादन करने का प्रयत्न कर रहे हैं। घोडों की सवारी भी अनध्याय के दिन बराबर होती है।

ब्रह्मचारियों का तोल—गत पूर्णिमा के पश्चात् अभी आधे संरक्षकों को ही भेजा गया था कि श्री डॉ० चिरंजीव भारद्वाज के लिखने पर तोल का रजिस्टर उनके पास भेजा गया। उक्त डॉ० जी ने रजिस्टर इसलिये मंगवाया है कि ब्रह्मचारियों के तोल में परिवर्तन की ऊँच-नीच देख कर आगे के लिये भोजन का ठीक प्रकार निश्चय कर दें। जब रजिस्टर लौट आयेगा तब शेष संरक्षकों की सेवा में भी उनके ब्रह्मचारियों के तोल लिखकर भेज दिये जायेंगे। गत परीक्षा का परिणाम लिखकर संरक्षकों के पास भेजा जा रहा है।

दक्षिण हैदराबाद की—दुर्घटना पर सहायतार्थ जो अध्यापकादिकों से प्राप्त हुआ है, वह १५५) से बढ़ गया है। इनमें बड़ी रकमें यह हैं। मुख्याधिष्ठाता १६) श्री पं० काशीनाथ जी १५), श्री महाशय पंतराम जी २०), श्री चौधरी बुद्धन सिंह जी १०)। ब्रह्मचारियों ने जो सात दिन शाक, दाल तथा घी छोड़ा था उससे साढ़े छयानवे रुपये प्राप्त हुए। ब्रह्मचारी भारद्वाज तथा ब्रह्मचारी इन्द्र ने पारितोषिक में मिली हुई अपनी अपनी बन्डी सहायतार्थ दे दी, जिन्हें बेचकर रोकड रुपये भेजे गये। गुरुकुल भण्डार तथा अन्य पुरुषों से जमा करके एक बड़ा गट्ठर कपड़ों का तैयार है जो भेजा जायेगा।

दर्शक इस समय बहुत आते हैं। सर्व गुरुकुल को अवलोकन करके प्रसन्न हो जाते हैं। बाबू हीरालाल जी इन्जीनियर भक्खर से आये थे, सब कुछ देखकर प्रसन्न हुए और पुस्तकालय की आलमारियों के क्रयार्थ १००) दान दे गये।

इमारत का काम भी चल रहा है। महाविद्यालय मन्दिर के दोनों बड़े कमरों पर भी गार्डर चढ़ गए। अब आशा है कि एक मास तक यह इमारत समाप्त हो जायेगी। अभी शेष इमारत बनाने के लिए किसी ठेकेदार की चिट्ठी नहीं आई। यदि ठेका न हुआ तो १५ दिसम्बर से अमानी काम आरम्भ होगा। (सद्धर्म प्रचारक, बुधवार १३ कार्तिक, संवत् १९६५, ता० २८ अक्टूबर, १९०८)

गुरुकुल समाचार

२ अक्टूबर, १९८३ को गांधी जयन्ती के अवसर पर मातृ ग्राम कांगड़ी में साक्षरता दिवस का आयोजन किया गया। इस अवसर पर आयोजित समारोह की अध्यक्षता माननीय कुलपति श्री बलभद्र कुमार हूजा ने की। साक्षरता दिवस का उद्घाटन कुलपति जी ने श्यामपट पर "ॐ" लिखकर किया। गांव के निरक्षर लोगों ने जिसको अपनी स्लेटों पर लिखने का प्रयास किया। सर्वप्रथम डा० बी०डी० जोशी ने साक्षरता अभियान पर अपने भाषण में देश में वर्तमान निरक्षर लोगों की संख्या के विषय में जानकरी दी एवं बताया कि इस अभियान के लिये ४००० रु० की ग्रान्ट प्राप्त हो चुकी है। डा० विजय शंकर सक्सेना, अध्यक्ष वनस्पति विभाग ने अपने भाषण में आशा व्यक्त करते हुए कहा कि कांगड़ी ग्राम के अनपढ़ लोग प्रौढ़ शिक्षा से लाभ उठाकर अपना जीवन स्तर ऊंचा उठाने का प्रयास करेंगे।

अपने भाषण में श्री कुलपति जी ने इस अभियान की महत्ता पर अपने विचार प्रकट करते हुए कहा कि हमें विशेष रूप से नारी को शिक्षित करना है क्योंकि नारी ही मां के रूप में प्रथम शिक्षा अपने शिशु को देती है।

अन्त में कुलसचिव महोदय ने समस्त उपस्थित महानुभावों का धन्यवाद किया तथा विश्वविद्यालय की ओर से कांगड़ी ग्राम के लोगों को साक्षर बनाने में पूर्ण सहयोग देने का आश्वासन दिया तथा गुरुकुल के उद्देश्य से साक्षरता अभियान को जुड़ा हुआ बतलाते हुए कहा कि आर्य समाज का उद्देश्य ही शिक्षा का प्रचार करना है। इसलिये गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय को इस कार्य में अग्रणी रहना अत्यन्त आवश्यक है। इस सभा का संचालन डा० त्रिलोक चन्द्र जी ने किया। जिन्हें प्रौढ़ शिक्षा अधिकारी नियुक्त किया गया। इस अवसर पर उन्होंने संकल्प लिया कि कांगड़ी ग्राम के १५ से पैंतीस वर्ष के किसी स्त्री पुरुष को अशिक्षित नहीं रहने दिया जायेगा।

दिनांक १० अक्टूबर, १९८३ को कुलसचिव डा० जबरसिंह सेंगर को कुछ अज्ञात व्यक्तियों ने गोली चलाकर जख्मी कर दिया। डा० सेंगर ने जो कि स्कूटर पर सवार थे, अत्यन्त साहस का परिचय दिया, वे सीधे मुख्य कार्यालय पहुँचे। जहां से उन्हें तुरन्त अस्पताल ले जाया गया। इस घटना से समस्त विश्वविद्यालय में रोष व्याप्त हो गया तथा इस प्रकार की घटना की पुनरावृत्ति को रोकने के लिये विशेष कदम उठाने की मांग की गयी।

दिनांक ३ नवम्बर, १९८३ अजमेर में आयोजित ऋषि दयानन्द निर्वाण शताब्दी के अवसर पर डा० राकेश शास्त्री, संस्कृत विभाग तथा डा० त्रिलोक चन्द्र, दर्शन विभाग के नेतृत्व में वेद महाविद्यालय एवं कला महाविद्यालय के छात्रों का एक दल सरस्वती यात्रा पर अजमेर गया तथा वहां के सभी आयोजनों में उत्साह पूर्वक भाग लिया। साथ ही वहां के एतिहासिक स्थलों पुष्कर तीर्थ, ढाई दिन का झोंपड़ा एवं आमेर का किला आदि का अवलोकन कर ज्ञान वृद्धि की।

दिनांक ५ नवम्बर, १९८३ ऋषि दयानन्द निर्वाण शताब्दी के अवसर पर वैदिक साहित्य के प्रख्यात ११ विद्वानों—१. पं० विश्वनाथ जी (भू०पू० वेदोपाध्याय, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय) २. पं० सत्यव्रत जी सिद्धान्तालंकार (विजीटर एवं भू०पू० कुलपति, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय) ३. आचार्य प्रियव्रत जी (भू० पू० कुलपति, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय) ४. पं० सत्यकाम विद्यालंकार ५. पं० रामनाथ वेदालंकार (भू०पू० उपकुलपति, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय) ६. पं० विराज वेदालंकार ७. पं० सत्यदेव भारद्वाज ८. पं० नरदेव जी ९. डा० दिलीप वेदालंकार १०. पं० क्षितीश कुमार वेदालंकार ११. आचार्य रामप्रसाद वेदालंकार (वर्तमान उपकुलपति, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय) को सम्मानित किया गया। यह हमारे लिए अत्यन्त गौरव की बात है क्योंकि इससे विश्वविद्यालय की गरिमा में श्री वृद्धि हुई है।

दिनांक २० नवम्बर, १९८३ को विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन में कालिदास अकादमी द्वारा अखिल भारतीय विश्वविद्यालय स्तर पर एक संस्कृत—वाद—विवाद प्रतियोगिता का आयोजन किया गया। जिसमें गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय का प्रतिनिधित्व—संस्कृत विभाग के वरिष्ठ प्राध्यापक प्रो० वेदप्रकाश शास्त्री द्वारा प्रशिक्षित **दूधपुरी गोस्वामी** (वेदालंकार प्रथम वर्ष) तथा **ब्र० सत्यदेव** (एम० ए० संस्कृत द्वितीय वर्ष) ने किया। इनमें से दूधपुरी गोस्वामी ने प्रथम तथा सत्यदेव ने तृतीय स्थान प्राप्त कर विश्वविद्यालय के गौरव में श्री वृद्धि की। पुरस्कार स्वरूप दूधपुरी गोस्वामी को एक स्वर्ण पदक तथा १०० रु० नकद एवं ब्र० सत्यदेव को कांस्य पदक एवं १०० रु० नकद रूप में प्राप्त हुए। इन दोनों छात्रों के संयुक्त प्रयास के फलस्वरूप विश्वविद्यालय को एक चल विजयोपहार प्राप्त हुआ। इसके लिये दोनों छात्र बधाई एवं प्रशंसा के पात्र हैं।

२६ नवम्बर, १९८३ को कुलपति श्री बलभद्र कुमार हूजा जी की अध्यक्षता में विज्ञान महाविद्यालय में एक सभा का आयोजन किया गया। इस में मुख्य अतिथि श्रद्धेय स्वामी श्रद्धानन्द जी के दौहित्र, संस्कृत, हिन्दी तथा अंग्रेजी भाषा के विद्वान्, वैदिक साहित्य के मर्मज्ञ एवं उच्चकोटि के सम्पादक पं० सत्यकाम विद्यालंकार जी ने मुख्य अतिथि पद को सुशोभित किया। इसमें सर्वप्रथम आचार्य रामप्रसाद जी ने मुख्य अतिथि का परिचय दिया पश्चात् डा० त्रिलोक चन्द्र, योग निदेशक द्वारा गत वर्ष १ नवम्बर १९८२ को स्थापित अन्तर्राष्ट्रीय योग प्रशिक्षण केन्द्र की संक्षिप्त रिपोर्ट प्रस्तुत की गयी। इसमें ५२ प्रशिक्षार्थियों ने प्रवेश लिया था, जिनमें ४६ प्रशिक्षार्थी उत्तीर्ण हुए। उत्तीर्ण छात्रों को पं० सत्यकाम विद्यालंकार जी ने प्रमाण पत्र प्रदान किये एवं छात्रों को आशीर्वाद देते हुए कहा कि—"गुरुकुल का लक्ष्य वेद—साहित्य का अनुवाद तथा प्रचार करना तथा जीवन को कल्याणकारी कार्यों में लगाने के लिये प्रेरित करना है। योग एक साधन है, इसका लक्ष्य ईश्वर की निकटता प्राप्त करना है।

दिनांक २ दिसम्बर, को अकस्मात् ही जन्तु विभाग के प्रवक्ता डा० तिलकराज सेठ को जबरदस्त दिल का दौरा पड़ा, जबकि इससे पूर्व वह पूर्ण रूपेण स्वस्थ थे। उन्हें तत्काल राम कृष्ण मिशन अस्पताल में भर्ती कराया गया। चिकित्सकों ने उन्हें तीन माह की पूर्ण विश्राम की सलाह दी है। अब वे धीरे-धीरे स्वास्थ्य लाभ कर रहे हैं। गुरुकुल परिवार उनके शीघ्र स्वास्थ्य लाभ की कामना करता है।

३ दिसम्बर, १९८३ को आचार्य रामप्रसाद जी वेदालंकार की अध्यक्षता में एक सभा का आयोजन किया गया, जिसमें डा० सत्यकाम विद्यालंकार ने 'वेदों की वैज्ञानिकता' विषय पर अपने विद्वत्तापूर्ण विचार प्रस्तुत किये। सभा का संयोजन डा० भारत भूषण विद्यालंकार, वेद विभाग ने किया।

दिनांक ३ दिसम्बर, को पं० सत्यकाम विद्यालंकार (श्रद्धानन्द जी के दौहित्र) के साथ कुलपति श्री हूजा जी एवं डा० बी. डी. जोशी ने मातृ ग्राम कांगड़ी की पाठशाला के भवन में रात्रि वास किया। रात्रि ८ से १० बजे तक पं० सत्यकाम जी की अध्यक्षता में समस्त ग्रामवासियों की एक सभा का आयोजन किया गया। इस सभा में ग्रामवासियों की अनेक समस्यायें उभर कर सामने आईं और बड़े खुले रूप से समस्याओं एवं उनके निदानों पर विचारों का आदान प्रदान हुआ। श्री शराफत अली, ग्राम विकास अधिकारी के इस विचार विमर्श में सक्रिय योगदान से सभा की व्यवहारिकता को अधिक लाभ मिला।

दिनांक ४ दिसम्बर,८३ की प्रातः ६ बजे ही माननीय कुलपति जी के अनुरोध पर पं. सत्यकाम जी द्वारा गांव के छात्रों एवं ग्रामवासियों के लिये अत्यन्त प्रेरणा पूर्ण श्रमदान कार्य का श्री गणेश किया गया।

दिनांक ७ दिसम्बर से १७ दिसम्बर ८३ तक जन्तु विभाग के अध्यक्ष डा. बी.डी. जोशी के नेतृत्व में विज्ञान महाविद्यालय के छात्रों का एक दल सरस्वती यात्रा पर रामेश्वरम् एवं कन्याकुमारी गया तथा छात्रों ने सामुद्रिक जीव विज्ञान से सम्बन्धित अनेक जानकारी प्राप्त की। स्नेक पार्क,मद्रास तथा मद्रास यूनिवर्सिटी में हो रही अन्तरिक्ष विज्ञान प्रदर्शनी से भी छात्रों का ज्ञानवर्धन हुआ।

दिनांक ९ दिसम्बर,८३ को आचार्य श्री रामदेव दिवस के उपलक्ष्य में वेद महाविद्यालय के शिक्षक-कक्ष में एक सभा का आयोजन किया गया। सभा की अध्यक्षता आचार्य रामप्रसाद वेदालंकार ने की। इस अवसर पर वक्ताओं ने आचार्य श्री रामदेव जी के त्यागमय जीवन पर अपने विचार प्रस्तुत किये तथा बताया कि वे हमारे लिये प्रेरणा के स्रोत हैं। प्रमुख वक्ताओं में आचार्य श्री रामप्रसाद जी वेदालंकार, श्री सुरेश चन्द्र त्यागी, (प्राचार्य विज्ञान महाविद्यालय), प्रो० वेद प्रकाश शास्त्री एवं प्रो० मनुदेव बन्धु रहे। सभा का संयोजन प्रो० वेदप्रकाश शास्त्री संस्कृत विभाग ने किया।

२३ दिसम्बर १९८३ को स्वामी श्रद्धानन्द बलिदान दिवस के अवसर पर श्रद्धानन्द द्वार से एक शोभा यात्रा में मान्य कुलपति हूजा जी, आचार्य रामप्रसाद जी,डा० जबर सिंह सैंगर (कुलसचिव) सुरेश चन्द्र त्यागी, प्राचार्य विज्ञान महाविद्यालय तथा सहायक मुख्याधिष्ठाता एवं विश्वविद्यालय तथा गुरुकुल विभाग के समस्त प्राध्यापक, कर्मचारियों, तथा छात्रों ने भाग लिया। सबसे आगे गुरुकुल विभाग के छात्र बैण्ड की धुन के साथ मस्त होकर श्रद्धानन्द जी के नारे लगाते हुये चल रहे थे। यह शोभा यात्रा वेद मन्दिर में पहुंचकर एक सभा में परिवर्तित हो गयी। जिसकी अध्यक्षता कुलपति श्री हूजा जी ने की । सभा का संयोजन डा० जयदेव वेदालंकार दर्शन विभाग ने किया। सभा में स्वामी श्रद्धानन्द जी को भावभीनी श्रद्धाञ्जलि समर्पित की गयी तथा उनके स्वप्नों को मूर्त रूप प्रदान करने का संकल्प लिया गया।

दिनांक २१ से ३१ दिसम्बर ८३,तक गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय राष्ट्रीय सेवा योजना का द्वितीय वार्षिक शिविर पुण्य भूमि कांगड़ी ग्राम में सम्पन्न हुआ। इस वर्ष भी शिविर में ५४ शिविरार्थियों ने भाग लिया एवं शिविर का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व तथा व्यवस्था का भार डॉ. बी. डी. जोशी ने कुशलता-पूर्वक वहन किया। कुलपति श्री हूजा जी ने दो दिन पूर्ण रूप से शिविर स्थल में बिताये और छात्रों के साथ मिलकर श्रमदान एवं बौद्धिक गोष्ठियों में सक्रिय रूप से भाग लिया। शिविर का उद्घाटन २३-१२-८३ को श्रद्धानन्द बलिदान दिवस के पुण्य अवसर पर प्रो० एल० आर० शाह, भूतपूर्व निदेशक, राष्ट्रीय सेवा योजना, भारत सरकार द्वारा सम्पन्न हुआ। समारोह की अध्यक्षता मान्य कुलपति श्री हूजा जी ने की।

दिनांक २६ दिसम्बर ८३ का लोकसभा अध्यक्ष डॉ० बलराम जाखड़ जी भी शिविर स्थली कांगड़ी ग्राम पधारे और स्थल के प्राकृतिक वातावरण से अत्यन्त प्रभावित हुए। लगभग प्रत्येक छात्र से भी जाखड़ जी ने व्यक्तिगत रूप से परिचय प्राप्त किया और ऐसे शिविरों की उपयोगिता की अत्यन्त सराहना की ।

दिनांक २८ दिसम्बर ८३ को श्री वेंकट नारायणन कृषि उत्पादन आयुक्त, उ.प्र. सरकार, भी कांगड़ी ग्राम पधारे तथा शिविरार्थियों से विचार विमर्श किया। बाद में कुलपति की अध्यक्षता में एक सभा का आयोज्न किया गया, जहां ग्रामवासियों की समस्याओं तथा निदानों पर विस्तृत चर्चा हुई।

इस अवसर पर जिला बिजनौर के लगभग सभी उच्च प्रशासनिक अधिकारी उपस्थित थे। दिनांक ३१-१२-८३ को शिविर के समापन समारोह के मुख्य अतिथि बिजनौर के जिलाधीश श्री दर्शन सिंह जी रहे। उन्होंने आश्वासन दिया कि गुरुकुल विश्वविद्यालय के माध्यम से किये जा रहे कार्य में भरपूर सहयोग देगें।

१ जनवरी १९८४ को विश्वविद्यालय अनुदान आयोग से स्वीकृति प्राप्त हो जाने पर एक जनवरी से तीन केन्द्रों पर प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम के अन्तर्गत अध्ययन-अध्यापन का कार्य आरम्भ हो गया। निम्नलिखित गांवों में यह कार्यक्रम चल रहा है :—

कांगड़ी, जगदीशपुर, जमालपुर, सीतापुर, रोहालकी, किशनपुर, मेहवड़ कलां, खेड़ली, टिबड़ी, कुंजबाग आदि। कनखल व ज्वालापुर के कुछ मौहल्लों में भी प्रौढ़ शिक्षा के केन्द्र चल रहे हैं। जमालपुर गांव में दो महिलायें महिला केन्द्र चला रही हैं। अत्यन्त उत्साह और प्रगति के साथ अशिक्षितों को शिक्षित बनाया जा रहा है।

१२ जनवरी, १९८४ को गुजरात विद्यापीठ के कुलपति डा० रामलाल पारीख का गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में आगमन हुआ। उनके सम्मान में वेद महाविद्यालय के शिक्षक—कक्ष में एक सभा का आयोजन किया गया। जिसका संयोजन डा० विनोद चन्द्र सिन्हा, अध्यक्ष इतिहास विभाग ने किया। पारीख जी को माल्यार्पण के पश्चात् कुलपति श्री हूजा जी ने अपने संक्षिप्त भाषण में गुरुकुल किस दिशा में कार्य कर रहा है, इस ओर इंगित किया। मुख्य अतिथि ने गुरुकुल के कार्य की प्रशंसा करते हुए गुरुकुल को सर्वाधिक ऊंची एवं पुरानी संस्था बताया और कहा कि इस समय भारतीय संस्कृति पर चारों ओर से आक्रमण हो रहा है। गुरुकुल जैसी संस्थाएं ही इस आक्रमण से भारत की रक्षा कर सकती हैं। उन्होंने गुरुकुलीय शिक्षा प्रणाली की प्रशंसा करते हुए अपने आदर्शों पर दृढ़ रहने का आग्रह किया।

दिनांक १३ जनवरी, ८४ को उज्जैन में सम्पन्न हुई प्रतियोगिता के विजेताओं दूधपुरी एवं सत्यदेव के सम्मानार्थ एक सभा का आयोजन स्टाफ रूम में किया गया। मान्य कुलपति श्री हूजा जी के आदेश से समस्त कार्यवाही संस्कृत में ही सम्पन्न हुई। गुरुकुल के मूल भूत उद्देश्यों पर मान्य कुलपति जी ने प्रकाश डालते हुये आशा व्यक्त की कि गुरुकुलीय परिसर में इन उद्देश्यों की पूर्ति हेतु पूर्ण प्रयास किया जायेगा। कुलपति जी की संस्कृत भाषण सुनने की इच्छा से प्रो० वेद प्रकाश शास्त्री, डा० जयदेव, डा० विजय पाल शास्त्री, डा० सत्यव्रत राजेश तथा डा० राकेश शास्त्री ने संस्कृत भाषा में ही भाषण दिया। अन्त में आचार्य श्री रामप्रसाद वेदालंकार जी ने संस्कृत में अपने विचार प्रकट करते हुए धन्यवाद दिया।

२६ जनवरी, ८४ को परिसर में अत्यन्त उत्साहपूर्वक गणतन्त्र दिवस मनाया गया। वि०वि० के कुलपति श्री बलभद्र कुमार हूजाजी ने ध्वजारोहण किया। ध्वजारोहण के पश्चात् उन्होंने एन.सी.सी. कैडेट एवं विद्यालय स्काउट्स की सलामी भी ली। अपने संक्षिप्त भाषण में श्री कुलपति जी ने कहा कि गुरुकुल प्रगति की दिशा में बढ़ा रहा है, किन्तु हमें और भी उत्साह के साथ इस ओर सक्रिय होना चाहिए। राष्ट्रीय आन्दोलन में गुरुकुल की भूमिका पर भी उन्होंने प्रकाश डाला। □

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय पुस्तकालय—

प्रगति का एक वर्ष

वर्ष १९८३ में विश्वविद्यालय पुस्तकालय प्रगति के पथ पर तीव्र गति से अग्रसर हुआ। इस आलोच्य वर्ष में पुस्तकालय के संग्रह में लगभग २८०० पुस्तकों की वृद्धि हुई, छात्रों के लिये विभिन्न विषयों की लगभग १५०० पाठ्य पुस्तकें मंगवाई गई।

गत वर्ष जहां विभिन्न विषयों की २७० पत्रिकायें पुस्तकालय में मंगवाई जाती थीं वहां आलोच्य वर्ष के अन्त तक ३५० पत्रिकायें मंगवाई जाने लगीं, गुरुकुल के इतिहास में प्रथम बार सभी विषयों में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के जरनल्स मंगवाने का कार्य प्रारम्भ किया गया। लगभग ५०,००० रु० की राशि अंन्तर्राष्ट्रीय स्तर की पत्रिकाओं को मंगवाने में विनियोजित की जा रही है।

पुस्तकालय को इस वर्ष सर्व प्रथम केवल पुस्तकों को सुरक्षा एवं जिल्दबंदी हेतु संस्कृति मंत्रालय भारत सरकार से ३०,००० रुपये का अनुदान प्राप्त हुआ, इस अनुदान से पुस्तकालय की १००० पत्रिकाओं की जिल्दबंदी का कार्य भी तेज गति से कराया जा रहा है।

पुस्तकालय में यहां के पुराने एवं दुर्लभ संग्रह को देखते हुए १९०० से पहले की सभी पुस्तकों का 'दुर्लभ पुस्तक संग्रह' के नाम से पृथक् संग्रह बनाया जा रहा है। इस संग्रह में से धीरे धीरे अत्यन्त दुर्लभ पुस्तकों को प्रकाशित करने की योजना भी सातवीं पंचवर्षीय योजना के कार्यक्रम में सम्मिलित की जा रही है।

पुस्तकालय समिति की दिनांक २-१-८४ को सम्पन्न बैठक में पुस्तकालय की अनेक प्रकार की वर्षों से उलझीं समस्याओं का समाधान किया गया। अब पुस्तकालय में दीमकों से पुस्तकों का नष्ट होना बंद हो गया, सारे पुस्तकालय भवन को पेस्ट कन्ट्रोल ऑफ इण्डिया के सहयोग से दीमक से सुरक्षित कर दिया गया है।

विजिटिंग टीम के समक्ष पुस्तकालय के स्वरूप को पूर्ण आधुनिक बनाने हेतु अनेक योजनायें प्रस्तुत की जा रही हैं।

१ समस्त पुस्तकालय संग्रह को खुले परिवेश में रखने हेतु स्टील की रैक्स मंगवाये जाने का प्रस्ताव।

२ प्राध्यापकों एवं शोध छात्रों के गंभीर अध्ययन हेतु पृथक् से कक्ष बनवाने का प्रस्ताव।

३ माइक्रोफिल्मिंग कक्ष बनवाने का प्रस्ताव।

४ पुस्तकालय को ५,००,००० रुपये का विशेष अनुदान दिये जाने का प्रस्ताव।

५ इस पुस्तकालय की छवि को राष्ट्रीय वैदिक पुस्तकालय के रूप में प्रकट करने हेतु व्यापक योजनाओं पर विचार किया जा रहा है।

पुस्तकालय में इस वर्ष फोटो स्टेट मशीन के आ जाने से शोध—छात्रों को बहुत सुविधा हो सकेगी, इससे पुस्तकालय की दुर्लभ सामग्री को भी सुरक्षित करने में सहायता मिलेगी।

विश्वविद्यालय के निर्धन छात्रों को पुस्तकालय में आंशिक रोजगार देने के कार्यक्रम में इस वर्ष ४ छात्रों का चयन किया। पुस्तकालय की प्रगति में यहां के अधिकारियों, प्राध्यापकों का भी प्रत्येक पग पर सहयोग प्राप्त होता रहता है।

पुस्तकालय में १९८३ से प्रतियोगात्मक पुस्तक संग्रह की पृथक् से स्थापना की गई, विभिन्न प्रतियोगात्मक परीक्षाओं में बैठने वाले छात्रों के लिये यह संग्रह वरदान सिद्ध हुआ है।

प्रस्तुतकर्ता
जगदीश विद्यालंकार